नये निबन्ध

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

पा।पा।8।व.

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)

२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं

चौड़ा रास्ता, जयपुर

३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

यह पुस्तक भारत सरकार से प्राप्त
रियायती दर के कागज पर छापी गई है।

मूल्य : ३.५०

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / संस्करण : १९७१ / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित।

निबंध क्रम

●●●

हिंदी निबंध

(भूमिका)

निबंध आधुनिक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। वास्तव में 'निबंध' शब्द से एक ऐसी साहित्य-विधा का बोध होता है, जो अपने स्वरूप और शिल्प में अत्यधिक सुगठित और कसा हुआ है। लेकिन सच्चाई यह है कि निबंध से अधिक लचीली कोई दूसरी विधा नहीं है। कुछ विद्वानों ने निबंध को वर्तमान युग की प्रतिनिधि विधा कहा है। संभवतः इसका एक बड़ा कारण यह है कि निबंध एक संधि-जन्मा साहित्य-रूप है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो समस्त साहित्यिक विधाओं में निबंध की स्थिति सर्वाधिक विलक्षण है। निबंध को एक ओर जहां प्राचीन प्रबंध के समानार्थी के रूप में देखा-माना जाता है, वहीं उसे किसी भी तरह के लेखन के पर्यायवाची के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। वास्तव में निबंध की परिभाषा की समस्या को उलझाए रखने में पश्चिम के उन सभी निबंधकारों का विशेष योग है, जिनके नाम के साथ हिंदी का निबंध-साहित्य अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कविता केंद्रवर्ती विधा कही जाती है और निबंध परिधि-वर्ती। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' को निबंध कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लेखों में आलोचना के तत्त्व विद्यमान हैं, लेकिन उन्हें निबंध से अलग नहीं किया जा सकता। महादेवी के संस्मरण-रेखा-चित्रों में निबंध की सभी विशिष्टताएं हैं। यही नहीं—राहुल सांकृत्यायन और अज्ञेय के यात्रा वृत्तांतों, रांगेय राघव के रिपोर्ताजों, राय कृष्णदास के गद्य-गीतों और महावीरप्रसाद द्विवेदी की संपादकीय टिप्पणियों को भी निबंध मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना गलत न होगा कि निबंध अपनी समवर्ती अन्य विधाओं की संधि-भूमि में विकसित ऐसा

साहित्य-रूप है, जो दूसरे साहित्य-रूपों की तरह रूढ़ मर्यादाओं में नहीं बंध पाता। असल में, बीसवीं शती के द्वितीय चतुर्थांश में निबंध ने अनेक साहित्य-रूपों को अपने में आत्मसात् करके विकास किया है। अतः इस काल के निबंधों में जीवन की वास्तविकता, कथा की संवेदना और जिज्ञासा, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की चारु-कल्पना, गद्य काव्य की भावातिशयता, महाकाव्य की गरिमा और विचारों की उत्कृष्टता— सभी एक साथ प्राप्त होती हैं। संक्षेप में, 'निबंध' शब्द 'लेख' और 'प्रस्ताव' का पर्याय है, लेकिन साहित्यिक जगत् में इसका प्रयोग एक विशेष प्रकार की गद्य-रचना के लिए प्रचलित हो गया है, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्रतिबिंबित होना चाहिए।

वैसे, 'निबंध' शब्द पूर्णतया स्वदेशी है। नि+बंध। अर्थात्— एकत्रीकरण, बांधना। 'निबध्यतेऽनेनास्मिन्वा' (अमरकोश १।७।७)। भली प्रकार से बंधी रचना को 'निबंध' कहा गया है। लेकिन वास्तव में 'निबंध' अपने शाब्दिक अर्थ के विपरीत एक बंधनहीन विधा है। इसमें किसी विशेष विषय, विधि या प्रस्तुतीकरण का एक सीमा तक तो आग्रह रहता है, लेकिन निबंधकार इस बात के लिए सर्वथा स्वतंत्र है कि वह किसी भी बात को बिलकुल नये ढंग से प्रस्तुत कर सकता है। उस पर अपनी सर्वथा मौलिक प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। जॉनसन के शब्दों में, निबंध (ऐसे) शब्द एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें मन की उन्मुक्त मौज हो, अनियम हो, व्यवस्था या नियमबद्धता न हो। लेकिन यहां यह ध्यान में रखना होगा कि जॉनसन के इन शब्दों का यह मतलब कतई नहीं है कि निबंध को अनगढ़ या अपरिष्कृत रचना होना चाहिए। मानना होगा कि निबंध एक ऐसी कलाकृति है, जिसके नियम प्रायः निबंध-लेखन द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। निबंधकार का व्यक्तित्व निबंध का मुख्य तत्त्व होता है। उसे अपने जीवन-अनुभव को बड़ी आत्मीयता से प्रस्तुत करना होता है। निबंध किसी भी विषय पर लिखा जाय, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की सीमा नहीं है। निबंध किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है और अपने अभीष्ट विषय के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करने की लेखक को पूरी स्वतन्त्रता रहती है। जैसा कि विलियम हेजलिट ने लिखा है कि— "निबंध-

कार का काम यह दिखाना नहीं है, जो कभी हुआ नहीं, न ही उसका प्रस्तुतीकरण करना, जिसका हमने सपना भी नहीं देखा; बल्कि वह दिखाना जो रोज हमारी आंखों के आगे से गुजरता है और जिसके बारे में हम ख्याल भी नहीं करते, क्योंकि हमारे पास यह अन्तर्ज्ञान नहीं होता या बुद्धि की वह पकड़ नहीं होती, जो उन्हें संभाल सके।" यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि निबंधों की भाषा-शैली भी तभी प्रभावशाली होती है, जबकि उस पर लेखक के समग्र व्यक्तित्व की गहरी छाप हो।

निबंध सामान्यतया चार प्रकार के होते हैं : १. कथात्मक, २. वर्णनात्मक, ३. विचारात्मक, और ४. भावात्मक। कथात्मक निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का सहज इस्तेमाल होता है। वर्णनात्मक निबंधों में प्रकृति या मनुष्य-जीवन के आस-पास की अंतरंग या बहिरंग घटनाओं का रोचक वर्णन होता है। चिंतन-प्रधान या विचारात्मक निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसंबद्ध रीति से मौलिक दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। भावात्मक निबंधों में निबंधकार के हृदय से फूटी भावधारा ही विचार-सूत्र का नियंत्रण करती है। उसका उद्देश्य अपनी किसी सरस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुंचाना होता है। लेकिन निबंध के ये प्रकार केवल सुविधा के लिए ही हैं। नये निबंधकार अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा निबंधों की नई-नई शैलियां और स्वरूप आविष्कृत कर रहे हैं। जब अनजाने रास्ते पर चलने की इच्छा प्रमुख हो तब परिचित पथों के दिशा-संकेतों से काम नहीं चलता।

हमें यह उदारता के साथ स्वीकार करना चाहिए कि हिंदी का आधुनिक निबंध पाश्चात्य साहित्य के संपर्क की देन है। आधुनिक युग को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'गद्य काल' कहा है। इस 'गद्य काल' के निर्माण में उपन्यासों, कहानियों और संधि-जन्मा निबंधों का विशेष योग है। हिंदी के इतिहास-लेखक यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि हिंदी निबंधों का अभ्युदय भारतेंदु-काल में हुआ और भारतेंदु हरिश्चंद्र ही इस विधा के जनक हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्वयं और अपने मित्रों के सहयोग से ऐसे

निबंधों की रचना की, जो अत्यंत जीवंत, जागरूक और आत्मीय हैं। भाषा की दृष्टि से भी इस काल के निबंधकार बड़े उदार हैं। उनकी दृष्टि वर्तमान और भविष्य सभी ओर थी और उनमें गहरी आस्था तथा बेताबी भरी हुई थी। इस समय के निबंधों में विचारों की अनेकता, समाज-सुधार-भावना, राजनीतिक चेतना, रोचकता, पत्रकारिता आदि के गुण मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि इस काल के प्रमुख निबंधकार— भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमचंद आदि पत्रकार थे। हिंदी की व्यंजना-शक्ति के विकास और उसमें शैलीगत विविधता लाने में इस युग के निबंधकारों का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा।

बीसवीं शती के प्रारंभ तक नई शिक्षा में दीक्षित व्यक्तियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। उसी के अनुपात में पत्र-पत्रिकाओं की तादाद भी बढ़ी। इस प्रकार पाठकों के साथ लेखकों का समुदाय भी बढ़ता गया। लेकिन किसी व्यवस्थित शैली और आदर्श का अभाव फिर भी बना रहा। इसी समय (सन् १९०३ में) महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। इस पत्रिका के माध्यम से द्विवेदीजी ने हिंदी गद्य को व्यवस्थित किया। पाठक समुदाय की ज्ञान की भूख को तृप्त करने के लिए उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर लेख लिखे और लिखवाए। बताना न होगा कि इन बंधुओंका स्वर भारतेंदु-काल के निबंधों से अधिक गंभीर था। द्विवेदी-युग (सन् १९००--१९२० ई०) के निबंध में व्यंग्य-विनोद एवं सजीवता के साथ ही शैली की दृष्टि से गंभीरता और विषय-वस्तु की दृष्टि से उपयोगी सूचनाओं की वृद्धि भी होने लगी थी। इस युग के निबंध लोकशिक्षा के माध्यम हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्याम-सुन्दरदास, गोविन्दनारायण मिश्र, मिश्रबंधु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त आदि इस युग के प्रतिनिधि निबंधकार हैं। ध्यान देने की बात है कि इस युग के महत्त्वपूर्ण निबंधकार प्राध्यापक-वर्ग से आए।

वस्तुतः निबंधों का प्रसार-काल और परिपाक-काल एक ही काल के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध हैं। यदि प्रसार-काल में भाषा का परिष्कार और ज्ञान-संवर्द्धन हुआ तो परिपाक-काल में जीवन-दृष्टि और सिद्धांत-विवेचन

का विशेष आग्रह प्रकट किया गया है। इस काल में पाश्चात्य जीवन-दृष्टि के साथ ही भारतीय जीवन-दृष्टि का घनिष्ठ समन्वय हुआ। इस समय के निबंधों में आदर्शवादिता को भी एक नया बौद्धिक उन्मेष मिला।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार माने जाते हैं। और वास्तव में उन्होंने निबंध को जो गंभीरता और गरिमा प्रदान की, वह अन्य भारतीय भाषाओं में भी अलभ्य है। सियारामशरण गुप्त, गुलाबराय, महादेवी, प्रसाद, निराला, राय कृष्णदास, रघुवीरसिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र आदि इस युग के कतिपय अन्य उल्लेखनीय निबंधकार हैं। इन निबंधकारों ने अनेक स्तरों पर अपना काम किया। इस युग में एक ओर तो बौद्धिक और गंभीर निबंध लिखे गए, दूसरी ओर गद्य-गीतात्मक, समस्यामूलक निबंधों की भी रचना हुई। दरअसल इस काल में हिंदी निबंधों ने अपने संधिजन्मा होने का उदाहरण प्रस्तुत किया।

हिंदी निबंधों का उत्कर्ष बिल्कुल नये वातावरण में हुआ। इस दौर में निबंध-साहित्य में गुणात्मक रूपांतर हुआ। एक उदार मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर इस युग के निबंधकार अपने-अपने दृष्टिकोणों से जीवन और जगत् की बहुरंगी समस्याओं को व्यक्त करने लगे। हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीनारायण चतुर्वेदी, डा० सम्पूर्णानन्द, रामविलास शर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, राहुल सांकृत्यायन, दिनकर, रांगेय राघव, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रभाकर माचवे आदि निबंधकारों ने इस युग में निबंध-साहित्य को अद्वितीय विस्तार दिया। इस युग के निबंधों में गंभीरता के साथ ही स्वच्छंदता के विशेष दर्शन होते हैं। कहा जा सकता है कि इस काल में नये सिरे से वैयक्तिक निबंध-लेखन की परंपरा शुरू हुई। उदाहरण के लिए, इस युग के शीर्ष निबंधकार हजारीप्रसाद द्विवेदी के आत्माभिव्यंजक ललित निबंधों में एक ओर भारतेंदुकालीन निबंध-लेखकों की विनोदप्रियता, चटुलता और स्वच्छंदता है तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल की शोधपरक गंभीर लोकसंग्राहक वृत्ति भी है। उनके निबंध में जहां भारतीय जीवन और परंपरा के उदात्त तत्त्व संचित हुए हैं, वहीं जीवन की नई समस्याओं से साक्षा-

त्कार भी है। वास्तव में हिंदी निबंधों को जैसी भंगिमा और जैसी मुद्रा इस काल में मिली; वह अभूतपूर्व है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हिंदी-निबंध बिल्कुल नई जमीन पर नये तेवर के साथ खड़ा दिखाई पड़ता है। उसकी उपलब्धियों के कारण नई कविता नई कहानी के वजन पर, हम इसे 'नया निबंध' भी कह सकते हैं। वास्तव में, हिंदी का समसामयिक नया निबंध-साहित्य 'मध्यवर्तिनी भूमि' पर है। मध्यवर्तिनी भूमि, अर्थात् विशुद्ध गांभीर्य और विशुद्ध हास्य के बीच में ईषत् मनोरंजन और ईषत् अभिज्ञता का चतुर्मुखी लालित्य। विद्या-निवास मिश्र, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई, ठाकुर-प्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल, अमृतराय, मुक्तिबोध, कुबेरनाथ राय, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी के निबंधों में वह चतुर्मुखी लालित्य है जिसका कमोवेश अभाव अभी तक के हिंदी-निबंध साहित्य में रहा है।

यह एक बड़ी बात है कि हिंदी के समसामयिक निबंधकारों में अपने चतुर्दिक व्याप्त समस्याओं और आसपास की स्थितियों-परिस्थितियों को देखने-परखने और उनका समुचित विश्लेषण करने की नई शक्ति और दृष्टि है। इस दौर में लिखे गये निबंधों की कोई एक पद्धति नहीं है, बल्कि प्रत्येक निबंध ने अपनी आवश्यकताओं और व्यक्तित्व के अनुरूप अपनी शैली का संधान और विकास किया है। अन्य विधाओं की तरह उसकी भी उपलब्धियां समर्थ और महत्त्वपूर्ण हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेंदु से जो निबंध-यात्रा आरंभ हुई थी, वह आज तक निरंतर गतिशील है; और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि न केवल भारतीय बल्कि विश्व के निबंध-साहित्य के बीच उसकी एक गौरवपूर्ण स्थिति है।

□□

इस संग्रह का उद्देश्य मात्र इतना है कि साहित्य-प्रेमी विद्यार्थी हिंदी निबंध की नई गतिविधियों और उपलब्धियों से सहज ही परिचित हों। संग्रह के निबंध और निबंधकारों का चयन इसी दृष्टि से किया गया है। विश्वास है, इस दृष्टि से यह संग्रह उपयोगी सिद्ध होगा।

—संपादक

परंपरा बनाम आधुनिकता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि परंपरा, अब तक के सभी आचार-विचारों का जमाव है। सभी पुरानी बातें परंपरा कह दी जाती हैं, जब कि सत्य यह है कि परंपरा भी एक गतिशील प्रक्रिया की देन है।

हमने अपनी पिछली पीढ़ी से जो कुछ प्राप्त किया है, वह समूचे अतीत की पूंजीभूत विचार-राशि नहीं है। सदा नये परिवेश में कुछ पुरानी बातें छोड़ दी जाती हैं और नई बातें जोड़ दी जाती हैं। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हूबहू वही नहीं देती, जो अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ-न-कुछ छंटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। यह निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया ही परंपरा है।

'परंपरा' का शब्दार्थ है, एक से दूसरे को, दूसरे से तीसरे को दिया जाने वाला क्रम। कभी-कभी गलत ढंग से इसे अतीत के सभी आचार-विचारों का बोधक मान लिया जाता है। पर परंपरा से हमें समूचा अतीत प्राप्त नहीं होता। उसका निरंतर निखरता, छंटता, बदलता रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम आगे की जीवन-पद्धति को रूप देते हैं।

एक उदाहरण लें। भाषा हमें परंपरा से प्राप्त हुई है। वह वैदिक युग की भाषा नहीं है, अपभ्रंश युग की नहीं है, यहां तक कि वह आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की भी नहीं है। काल-प्रवाह में बहती हुई, समकालीन

संदर्भ से बिखरती हुई, अनावश्यक बातों की छंटनी करती हुई, नये उपादानों से बढ़ती और बदलती हुई जिस रूप से इस पीढ़ी को प्राप्त हुई है, वही आज का परंपरा-प्राप्त रूप है।

वह समूचे अतीत के शब्दों को लिये-लिये यहां तक नहीं पहुंची है। शब्द बदल गये हैं; ऐसे भी शब्द उसमें आ गये हैं, जो पहले नहीं थे; ऐसे बहुत से छूट गये हैं, जो पहले प्रचलित थे; ऐसे भी बहुत हैं, जो लगते तो पुराने हैं, पर जिनके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। और तो और, वाक्यविधान और व्याकरण में भी परिवर्तन हुए हैं। फिर भी वह अतीत से एकदम असंयुक्त भी नहीं है। वही स्थिति समस्त आचार-विचारों के क्षेत्र में है।

इस प्रकार परंपरा का अर्थ विशुद्ध अतीत नहीं है, बल्कि एक निरंतर गतिशील जीवंत प्रक्रिया है। उसमें हमें जो कुछ मिलता है, उस पर खड़े होकर आगे के लिये कदम उठाते हैं। नीति-वाक्य में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है: 'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्'—बुद्धिमान आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है।

यह केवल व्यक्ति-सत्य नहीं है, सामाजिक संदर्भ में भी यही सत्य है। खड़ा पैर परंपरा है और चलता पैर आधुनिकता। दोनों का पारस्परिक संबंध खोजना बहुत कठिन नहीं, एक के बिना दूसरी की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

परंतु न तो परंपरा और न आधुनिकता ही काल-वाचक शब्द रह गये हैं। ये दोनों मनोभाव-वाचक अधिक हो गये हैं—वर्तमान परिस्थिति में तो कहीं अधिक मात्रा में।

'आधुनिकता' क्या है? शब्दार्थ पर विचार करें, तो 'अधुना' या इस समय जो कुछ है, वह आधुनिक है। पर 'आधुनिक' का यही अर्थ नहीं है, हम बराबर देखते हैं कि कुछ बातें इस समय भी ऐसी हैं, जो आधुनिक नहीं हैं, बल्कि मध्यकालीन हैं। सभी भावों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं।

यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सर्वदा किसी विचार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आये हैं। पिछली शताब्दी में हमारे

देशवासियों ने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया और बचे संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है।

उदाहरण के लिए साहित्य को लें। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार के दुखांत नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती थी, जिनके कारण यवन-साहित्य इतना महिमामंडित समझा जाता है और जिन्हें लिख-कर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गये हैं। उन दिनों कर्मफल प्राप्ति की अवश्यम्भाविकता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल थे कि संसार की समंजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था।

परंतु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इस जीवन को सुखी और सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गई है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल अतएव घृणा-स्पद नहीं माना जाता, बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परि-णाम है; अतएव सहानुभूति योग्य है; ऐसा माना जाने लगा है।

साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो, तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। और फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है, जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है।

यह गलत धारणा है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर हूबहू उन्हीं विचारों को अपनाएगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भांति सोचने की आदत को एक भयंकर वात्याचक्र की उलझन से निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दोहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में जो गया, सो गया। उसके लिए अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रहकर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त

को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति साहित्य-कार की विशेषता के रूप में ही जी सकते हैं।

आधुनिक समाज ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास-अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं।

इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यष्टि-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परंतु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावो-त्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नये काव्य-रूपों की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ।

कभी-कभी मनुष्य किसी विशेष प्रकार के आचार या विचार को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखने का प्रयास करता है, कितना कर पाता है, यह विवादास्पद विषय है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के मोह हैं। यह भी एक है। जब प्रयत्नपूर्वक किसी आचार या विचार को पीढ़ियों तक सुर-क्षित रखने का प्रयत्न होता है, तो उसे 'संप्रदाय' कहा जाता है। संप्रदाय, परंपरा नहीं है। 'संप्रदाय' शब्द आजकल थोड़े भिन्न अर्थ में लिया जाने लगा है, पर उसका मूल अर्थ गुरु-परंपरा से प्राप्त विशुद्ध आचार-विचारों का संरक्षण ही है। इसमें प्रयत्नपूर्वक अविकृत रखने की भावना मुख्य रूप से काम करती है। परंपरा सहज है, संप्रदाय प्रयत्नसिद्ध।

आधुनिकता 'संप्रदाय' का विरोध करती है, क्योंकि आधुनिकता गतिशील प्रक्रिया है, 'संप्रदाय' स्थिति-संरक्षक। परंतु परंपरा से आधु-निकता का वैसा विरोध नहीं होता। दोनों ही गतिशील प्रक्रियाएं हैं। दोनों में अंतर केवल यह है कि परंपरा यात्रा के बीच पड़ा हुआ अंतिम चरण है, जबकि आधुनिकता आगे बढ़ा हुआ गतिशील कदम है।

आधुनिकता अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य ने अनुभवों द्वारा जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नये संदर्भों में देखने की

दृष्टि आधुनिकता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। संदर्भ बदल रहे हैं, क्योंकि नई जानकारियों से नये साधन और नये उत्पादन सुलभ होते जा रहे हैं। बहुत-सी पुरानी बातें भुलाई जा रही हैं, नई सामग्रियां और नये कौशल नवीन संदर्भों की रचना कर रहे हैं। उनमें बहुसमादृत मानवीय मूल्यों का रूप कुछ बदला नजर आ रहा है। परंतु फिर भी उनका शाश्वत रूप बना रहता है। परंपरा से हमें इन मूल्यों का वह रूप प्राप्त होता है, जो अतीत के संदर्भ में बना था।

कोई भी आधुनिक विचार आसमान में नहीं पैदा होता है। सबकी जड़ परंपरा में गहराई तक गई हुई है। सुंदर-से-सुंदर फूल यह दावा नहीं कर सकता कि वह पेड़ से भिन्न होने के कारण उससे एकदम अलग है। कोई भी पेड़ दावा नहीं कर सकता कि वह मिट्टी से भिन्न होने के कारण उससे एकदम अलग है। इसी प्रकार कोई भी आधुनिक विचार यह दावा नहीं कर सकता कि वह परंपरा से कटा हुआ है। कार्य-कारण के रूप में, आधार-आधेय के रूप में परंपरा की एक अविच्छेद्य शृंखला अतीत में गहराई तक गई—बहुत गहराई तक गई हुई है।

आधुनिकता, ज्ञान की अत्याधुनिक उपलब्धियों के आलोक में रूप ग्रहण करने का प्रयास करती है, इसलिए बौद्धिक है। परंपरा केवल मनुष्यों के प्रयोजनों से छंटती-कटती ही नहीं है, उसकी विनोदिनी और कुतूहली वृत्ति से अन्यथा रूप भी ग्रहण करके आती है। इसीलिए वह पूरी इतिहास-सम्मत नहीं होती। कई बार शब्द उसमें नया रस भरते हैं, कई बार सामयिक विश्वास उसे नये आकार-प्रकार देते हैं। इतिहास से वह भिन्न हो जाती है और कभी बाह्य यथार्थ के तर्कसम्मत रूप से भी अलग हो जाती है।

परंपरा इतिहास-सम्मत नहीं हो सकती, पर भूले इतिहास को खोज निकालने का सूत्र देती है। इस इतिहास से बिखरी दृष्टि आधुनिकता की पहली शर्त है। जिसे इतिहास की नई दृष्टि प्राप्त नहीं है, वह हजारों वर्षों के मानवीय प्रयासों का रसास्वाद नहीं कर सकता, भविष्य के मानव-चित्र को सरस-कोमल बनाने वाले प्रयासों की कल्पना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य, मनुष्य को उसकी सरल वासनाओं और अद्‌भुत कल्पनाओं

के राज्य से वंचित करके भविष्य में उसे सुखी बनाने के सपने देखता है, वह ठूंठ तर्कपरायण कठमुल्ला ही हो सकता है ।

परंपरा आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क और नीरस बुद्धि-विलास बनने से बचाती है । उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत और विशृंखल उन्माद से बचाती है । परंपरा और आधुनिकता ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं ।

समाज और धर्म

डॉ० सम्पूर्णानन्द

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें, तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें; परंतु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई है। यदि एक सुखी और संपन्न है तो पचास दुःखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है; परंतु धर्मबुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु-प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे; परंतु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सबलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं, उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा स्वार्थ मोक्ष है; परंतु समाज किसी में हठात् न तो आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न कर सकता है और न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है, सबके सामने आत्मज्ञान और अभेद दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूल-मंत्र परिचर्या की जगह सहयोग हो और सबको अपनी योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो, तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायेगा। इसके साथ

ही यह बात भी आप ही हो जाएगी कि जिन लोगों की धर्मबुद्धि अभी उद्‌बुद्ध नहीं है, वे समाज की बहुत क्षति न कर सकेंगे।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बांट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं, उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरण के लिए उस टुकड़े को लीजिए, जिसे राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बांट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतंत्र प्रभु-राज्य के रूप में संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने से उनके हित टकराते हैं। एक को दूसरे से लड़ना पड़ता है। एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखा मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है; परंतु समूचे राष्ट्र को दास बनाना समूचें, राष्ट्र के जीवन को अपनी इच्छानुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है; बलात् दूसरे के घर का प्रबंध नहीं किया जा सकता; परंतु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राज्यों के परस्पर व्यवहार में सत्य, सहिष्णुता और अहिंसा का स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वही राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोंट देना निंद्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुंब में व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बितायें, परंतु सारे मानव-समाज की एकता सतत् सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए। जो राष्ट्र दूसरे की ओर कुदृष्टि से देखे, वह राष्ट्र समाज से बहिष्कृत और दंडित होना चाहिए।

न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाये जा सकते हैं—मानव-संस्कृति अविभाज्य है। योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी—चाहे किसी देश के निवासी हों—मनुष्य-समाज-मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य सामग्री प्रदान की है, उसे मनुष्य-मात्र के उपयोग का साधन बनाना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जायेगा, जब तक

वसुंधरा बलवानों की संपत्ति समझी जाएगी, जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर, तब तक मनुष्य समाज सुखी नहीं हो सकता।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को धर्माविरुद्ध अर्थ और काम निर्बाध प्राप्त हो सके। यह तभी हो सकता है, जब समाज का संगठन धर्ममूलक हो। समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं परन्तु उसके मूल तत्त्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है, वह धर्म है, जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केंद्रित रहता है, वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊंचा, कोई जन्मना नीचा माना जायेगा, जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जायेगा, और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊंचे पद से हटाया न जायेगा, जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से व्यक्तियों को समाज की धन-जन शक्ति की यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है, जिस समाज में शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने और उनके काम से असं-तुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता, जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वियों, विद्वानों, ब्राह्मणों का अंकुश नहीं होता, जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियंत्रण होता है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े-से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं, जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनों अर्थात् भूमि, खनिज और यंत्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है; जिस समाज में मनुष्य का शोषण वैध है; जिस समाज में प्रतिनिधियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है; जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़ों के हाथ में है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है।

यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल में इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा पीछे कहा गया है, धर्म का सिद्धांत अटल है; परंतु देश काल-पात्र भेद से

उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परंतु हमको इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता। धर्माधर्म की एक ही परख है, यह काम भेद-भाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक-दूसरे से मिलाता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न करता है? जहां कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्त्तव्य बांटे जायेंगे, जहां शिक्षक, पंडित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे, जहां पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा, जहां संपन्नों के दरबारी व्यास-पीठ से दुर्बलों और दलितों को शांति और संतोष का पाठ पढ़ाने में इतिकर्तव्यता समझेंगे, वहां कदापि समता, सद्‌भाव, सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहां वैषम्य की आग प्रत्येक दुःखी हृदय में दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रांति की लपट न केवल समाज की बुराई, वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग उसको बचाना चाहते हैं, उनका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवंचन का निरंतर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी में सद्‌भाव और शांति स्थापित करने का प्रयत्न करें। ऐसे वातावरण में ही ऊंची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं; ऐसे समाज में ही आत्मसाक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता; परंतु मनुष्य को मनुष्य की भांति रहने का अवसर अवश्य दे सकता है। उसका यही धर्म है।

वैदिक दर्शन : समग्र जीवन-दृष्टि

नन्ददुलारे वाजपेयी

वैदिक वाङ्मय का प्रकाश उस समय हुआ था, जिसे हम सृष्टि का ऊषाकाल कहते हैं। उस प्रथम जागृति के काल में मनुष्य-मात्र एक ही साथ निवास करते थे। यद्यपि स्थान-विशेष के संबंध में मतभेद पाया जाता है; परंतु इसमें संदेह नहीं कि वेदों में आदिम मानवीय एकता के स्मारक भाव और भाषा अंकित हैं। इस आदिम एकता की स्मृति आज विशेष रूप से आह्लाद-जनक हो गई है; क्योंकि इतने दीर्घ समय के पश्चात् पुनः उसी एकता की घड़ी निकट आ रही है। समय के सूने पथ पर चलते हुए मानव-यात्री या तो उस आदिकाल में ही एक साथ थे, या आज ही जब वे दुबारा मिल रहे हैं। इस मिलन-पर्व का केवल भावना-मूलक या मौखिक महत्त्व ही नहीं है, इसका महत्त्व मानव-सत्ता की मध्यवर्तिनी प्राणशक्तिकेही समान अपरिमित है। वह महत्त्व तो हम तब समझ सकेंगे जब यह देख लेंगे कि उस प्राकृतिक एकता का मार्ग छोड़कर भटकते हुए मनुष्यों ने कितने भ्रांत और बीहड़ पथों पर पैर रखा, कितने कृत्रिम बंधन बनाए और अब भी किस प्रकार उनमें जकड़े हुए हैं। वैदिक ऋषियों ने मूल-मानव-ऐक्य का अनुभव वास्तविक रूप में किया था—मनुष्य की यथार्थ सत्ता जिसमें भूत-भविष्य का भेद नहीं है, अपनी आंखों देखी थी। शताब्दियों के जीवन-विकास के रहस्य वैदिक कवियों के करतल-गत थे; उसी के आधार पर उन्होंने अपने शाश्वत तंत्र की स्थापना की थी। प्रकाश में आने के पूर्व वेद, सहस्रों वर्षों तक, आर्यों की व्यापक जीवन की कसौटी में कसे जा चुके थे। अतः जब

उनका आविर्भाव हुआ तब वे संस्कृति के पूर्व प्रतिबिंब ही हुए। देश और काल तो उनके उपादान ही थे, उन्हीं पर तो वह इमारत ही खड़ी हुई थी, इसलिए समय और स्थिति की सापेक्षता उसमें नहीं है। इतने दीर्घ समय तक सुचिंतित और प्राकृतिक अनुभूतियों से ओतप्रोत रचना संसार में कोई दूसरी नहीं है। आज तो वेद हिंदुओं के धर्म-ग्रंथ बने हुए हैं, शतशः मतमतांतर इनकी ऋचाओं से निकलकर तंतुवाय के तंतुओं की तरह फैल गए हैं। मेरा प्रयोजन उन तंतुओं की अनेकता प्रदर्शित करना नहीं है। मुझे तो उनकी एकता के संबंध में ही आज निवेदन करना है।

वैदिक ऋचायें क्या हैं? वे किस प्रकार प्रकाश में आईं? किस वस्तु का प्रकाश करती हैं? उनके भाव और भाषा की विशेषता क्या है? धर्म, दर्शन आदि की भित्ति उनमें कहां मिलती है? मनुष्यता के लिए उनका संदेश क्या है? रहस्य और महत्त्व क्या है? ये सभी प्रश्न इस स्थल पर उपस्थित हैं। वेदों का उर्जस्वी शब्द-चयन उसे सर्वोच्च कोटि के साहित्य का पद प्रदान करता है। उसके भावों में एक संशयहीन आवाहन और आदेश है जिसने समस्त आर्य जाति को आकर्षित कर एक सूत्र में सुसंलग्न किया था।

वेद की अधिकांश ऋचाएं देवताओं के लिए की गई स्तुतियां हैं। मूल वेद उन्हें ही कहते हैं। देवताओं में से ऊषा, अग्नि, सविता, अपा, वायु, पर्यजन्य तथा पृथ्वी आदि तो स्पष्टतः प्राकृतिक पदार्थ हैं अर्थात् उनका रूप प्रत्यक्ष है। शेष कतिपय वरुण, इंद्र, सोम आदि यद्यपि किसी दृश्य वस्तु के प्रतिनिधि नहीं हैं तथापि उनका घनिष्ठ संबंध आर्यों के दैनिक जीवन से था। इंद्र उनके बल, वीर्य और पराक्रम के, वरुण उनकी मानसिक तथा आचार-परक प्रवृत्तियों के और सोम उनके सुख के देवता जान पड़ते हैं। इन्हीं देवताओं की स्तुति में आर्यों ने ऋचाएं बनाईं और इन्हीं के लिए यज्ञों के विधान किए। तत्कालीन संपूर्ण जीवन का निरूपण इन्हीं देवताओं का आधार लेकर किया गया, जिसका अर्थ है कि संपूर्ण वैदिक संपत्ति इन्हीं निधियों में निहित है। इन्हें ही आर्यों का संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान, भाव-भक्ति और क्रिया-कर्म समर्पित किए गए थे; इन्हीं के अवलम्ब से संपूर्ण आर्य-जीवन, उनकी समस्त विद्याओं, कलाओं और कार्य-प्रणालियों

की संघटित प्रतिमा खड़ी हुई थी। एक-एक देवता की स्तुति में शतशः उपकरण ऐसे मिलते हैं, जो वैदिक इतिहास के स्थायी अंग हैं। इन्हीं अंगों की पूर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित होकर वैदिक या आर्य-संस्कृति कहलाई। इनका निरीक्षण हमें शून्य दृष्टि से करना चाहिए।

यदि संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वेदों की प्रधान शिक्षा देवतार्चन की ही है। ये देवता हैं क्या? एक शब्द में हम इन्हें दिव्य अथवा हित-वस्तु कह सकते हैं। वेदों के कुछ अन्वेपक कहते हैं कि पहले-पहल आर्यों की देवार्चना में भय का भाव प्रधान था। पीछे आदर-भाव प्रतिष्ठित हुआ और अंत में वहुत दिनों बाद प्रेम या भक्ति की भावना दृढ़ हुई। उन का यह अन्वेषण कहां तक प्रामाणिक माना जा सकता है यह तो वैदिक साहित्य के पंडित ही बतला सकते हैं; मेरे लिए तो यही कहना पर्याप्त होगा कि भय से हो या भाव से, स्तुति तो हित समझकर ही की गई है। यदि ऐसा न होता, तो आर्यगण इन्हें अपने दैनिक कार्यों में क्यों आमंत्रित करते? इन का स्वागत-सत्कार करने की, इनके उपलक्ष्य में बड़े-बड़े यज्ञ करने की, इन्हें अपनी पाई हुई कष्टसाध्य संपत्ति अर्पण करने की क्या आवश्यकता थी?

इसी हित वस्तु का दूसरा नाम संस्कृति या विकास है। इतिहास इसका शरीर और दर्शन प्राण है। भिन्न-भिन्न विद्याएं इसके विविध अंग हैं। इस हित-वस्तु की मीमांसा करने पर प्रकट होता है कि उसके अंग-प्रत्यंगों की अनेकविध रूपरेखा हैं; उन सबका सम्मिलित न्यास ही संस्कृति को स्वरूप प्रदान करता है। जिस प्रकार एक वड़े चक्र के अंतर्गत कितने ही छोटे चक्र हों और वे सब अपनी-अपनी गति के कारण संपूर्ण चक्र के साथ, जो स्वयं गतिशील है, नये-नये नाम-रूप धारण कर संलग्न दिखाई दें; उसी प्रकार संस्कृति या विकास-क्रम में भी नाम-रूपात्मक परिवर्तन होते रहते हैं; किंतु ग्रहों की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण सौर-मंडल अपनी विशेषता का परित्याग नहीं करता। उसी प्रकार संस्कृति भी अपने हित-स्वरूप को कभी नहीं बदलती जैसे पृथ्वी आदि ग्रहों पर ऋतुओं का बदलता हुआ प्रभाव दिखाई देता है; कभी शीत, कभी ग्रीष्म और कभी वर्षा की ऋतुएं आती हैं, उसी प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन भी होते हैं।

भेद चाहे जितने हों, एक अखंड अभेद तत्त्व युगों की मानवीय साधना

का लक्ष्य सदैव रहा है। संसार के वड़े-वड़े विचारक और महर्षि इसका निरूपण करने को अग्रसर हुए हैं। उनमें से वहुतों को आंशिक सफलता प्राप्त हुई और संभव हैं कुछ को न भी मिली हो। वैदिक काल में वह उत्कृष्ट तत्त्व जो देवता नाम से अभिहित हुआ, और जिसके कारण वैदिक संस्कृति देव-संस्कृति कही गई, वड़े विशद् रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वैदिक देवता-गण राक्षस या अनिष्ट-सत्ता के विनाशक प्रसिद्ध हैं। परंतु यह न समझना चाहिए कि विना राक्षस का विनाश किए देवता की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती। ऊषा या सरस्वती या पृथ्वी आदि देवियां तथा अनेक देवगंण राक्षसी भक्ति से कुछ भी सापेक्षता नहीं रखते। वैदिक देवताओं में इन्द्र ही प्रधानतः राक्षसों के संहारक हैं। इसलिए यह कहना संगत नहीं है कि देवता के अस्तित्व के लिए दानव का होना अनिवार्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कल्याणकारिणी विभूति शाश्वत सत्ता है। किसी में सौंदर्य की, किसी में बुद्धि की, किसी में लोक-हित की, किसी में पौरुष की और किसी में द्रव्य की विशेषता समन्वित पाकर उसकी उपासना की गई। यह निर्देश जैसे प्रकृति का ही था और राक्षसी या अनिष्ट-सत्ता का उन्मूलन भी संकल्प विकल्पात्मक बुद्धि-विकास से रहित पूर्ण प्राकृतिक ही अंकित किया गया। इसलिए वैदिक धर्म शाश्वत मानव धर्म कहा जाता है जिसका पालन करता हुआ मनुष्य प्रति क्षण स्वस्थ और सुखी रहता है। मानव-जीवन की यह व्यापक व्यवस्था ही मेरे विचार से वैदिक-कालीन सर्वश्रेष्ठ आदर्श और वैदिक सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट देन है।

देवता या प्रिय वस्तु की उपासना में आर्यगण अपने सर्व कर्म समर्पित करते थे; इसलिए वे सहज ही कर्म-वंधन से विनिर्मुक्त हो सके। प्रकृति की ही पाठशाला में शिक्षित होकर वे द्विधा बुद्धि का अंकुशपूर्ण भार वहन करने से विरत रह सके। शत-प्रतिशत खुले मैदान में संस्कृति सब ओर दौड़ लगा सकी। आर्यों की देवोपासना का रहस्य अव तक यथेष्ट स्पष्ट नहीं हो सका है। विना इसका स्वरूप समझे हम आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि संपूर्ण पर-वर्ती विकास इसी पर अवलंबित है। किसी एक देवता को ही लेकर वेदों में उसका वृत्तांत देखिए। उदाहरणार्थ इंद्र को ही लीजिए। यह इन्द्र-वल वीर्य या उत्साह का प्रतीक देवता है। इस देवता का विकास किस रूप में हुआ,

यह अभी वैदिक विद्वान निर्णय नहीं कर सके। इतिहासज्ञ इन्द्र को तत्कालीन आर्य महापुरुष या सम्राट मानते हैं। इसने राक्षसों या शत्रुओं का नाश कर अनेक हितकारी कार्य किए। मालूम होता है, इन्द्र की आरंभिक उपासना इसी रूप में हुई। आगे चलकर जब यह उपासना अधिक बढ़ी, तब वे एक ऐसी प्राकृतिक शक्ति के प्रतिनिधि बने जो आर्यों को इष्ट थी और इस नवीन रूप में भी वे शक्ति या पौरुष के ही प्रतिनिधि बने रहे। पर्वतों से युद्ध कर उनमें रुकी हुई जलधारा को प्रवाहित करना वज्रधारी इंद्र का ही कार्य माना गया। और आगे चलकर जब समय की लंबी अवधि पार कर जन-समाज इन्द्र को अधिक ऊपर छोड़ आया, तब इन्द्र की सत्ता स्वर्गीय हो गई—वे स्वर्ग में निवास करने लगे। वहां भी वे देवताओं के प्रधान या सुरपति के रूप में सम्मानित हुए। दीर्घकाल के पश्चात् जब इन्द्र का आदिम स्वरूप जनता के स्मृति-पटल से लुप्त होने लगा और इन्द्र अप्सराओं के अखाड़े में आमोद-प्रमोद करने वाले व्यक्ति रह गए, तब इन्द्र की उपासना बंद करने के लिए श्रीकृष्ण ने उपदेश किया। उस समय इन्द्र की पूजा रूढ़ हो गई थी। इन्द्र का तत्त्व विस्मृत हो गया था, उसके पुनरुद्धार का कार्य श्रीकृष्ण ने किया। उन्होंने गोवर्धन-पूजा के बहाने पुनः वास्तविक बल-वीर्य और आत्म-निर्भरता की वह शिक्षा दी जो इन्द्र की प्राथमिक शिक्षा थी। इस प्रकार इन्द्रत्व पुनरुज्जीवित और जागृत किया गया, यद्यपि इन्द्र नाम का महत्त्व जाता रहा। नाम-रूप बदलकर इन्द्र की शाश्वत सत्ता भारतीय जीवन-विकास का अंग बनी रही। आज जब इन्द्र की प्रत्यक्ष सत्ता की कोई स्मृत्ति नहीं है, तब स्वामी दयानन्दजी ने इन्द्र को साक्षात् ईश्वर या निराकार का तत्त्व मान लेने का संदेश सुनाया है। उनका कहना है कि इन्द्र सृष्टि का उत्पन्न करने वाला, परमपिता है। प्राणायामपूर्वक उसका ध्यान करना चाहिए। उसकी स्तुति विशेषणों से रहित अथवा निर्विशेष होनी चाहिए। जो इन्द्र प्रत्यक्ष स्वरूप आरंभ होकर वेदों में पूजित हुए और जो परवर्ती काल मे भी अपने वीरत्व गुण के लिए प्रसिद्ध थे, उन्हें स्वामी दयानन्दजी ने यह आकृति या आकृतिहीनता प्रदान की है। यह नवीन वेद-व्याख्या आदिम वैदिक विचारधारा से दूर जा पड़ती है।

वैदिक इन्द्र, जीवन की वास्तविक सत्ता से एकाकार होकर उनका

उन्नयन करते हैं; जबकि स्वामीजी उनकी सृष्टि-निरपेक्ष दैवी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। जीवन-प्रवाह से भिन्न एक ऐसी काल्पनिक वस्तु को सृष्टि का संरक्षक और सर्वशक्तिमान मानने की प्रवृत्ति वेदों में नहीं पाई जाती। वेदों में तो जीवन ही एकमात्र तत्त्व है और देवता उसके उन्नायक हैं। देवता अनेक हैं और उनमें से एक-एक का समय-क्रम से परिवर्तन भी हुआ है। इन देवताओं में वे सभी विशेषताएं हैं जो एकत्र होकर मानव-जीवन की पूर्णता स्थापित करती हैं। इनके आकार-प्रकार और व्यक्तित्व में यद्यपि सब प्रकार के भेद हैं परन्तु वे प्राकृतिक भेद जो मानवीय विकास के लिए अनिवार्य हैं, एक मौलिक अभेद में अंतर्लीन हो जाते हैं।

एक ही चित्र के अनेक रंगों की भांति वे देवता छाया-प्रकाश की भिन्न-भिन्न मात्राएं व्यक्त करते हैं। इनमें से कोई अत्यंत प्रत्यक्ष और स्थूलसत्ता की प्रतिमा, कोई उससे सूक्ष्म, कोई उससे भी सूक्ष्म है। कोई स्त्री-सौंदर्य, कोई पुरुष-सौंदर्य के प्रतीक, कोई पराक्रम के, कोई शील-सदाचार और कोई तेज-ओज के प्रतिनिधि हैं।

ऊपर के उल्लेख के आधार पर संभवतः हम यह कहने के अधिकारी हैं कि वैदिक संस्कृति कोई सापेक्ष वस्तु नहीं है, वरन् सम्पूर्ण हित की सत्ता ही है। इस हित की व्यापकता के संबंध मेंय ही कहना पर्याप्त होगा कि सहस्रों वर्षों के मानव-जीवन का विकास उसी के अंतर्गत है और आर्य-जाति की धारणा तो यह है कि उन दिव्य-द्रष्टा वैदिक महर्षियों ने शाश्वत विकास का रहस्य ही उद्घाटित कर दिया है। उनकी निरूपित संस्कृति नित्य है, आनंद-स्वरूप और संपूर्णता के सहित है।

जैसा कि संस्कृति शब्द से ही सूचित होता है, इसकी मूल वस्तु कृति या क्रिया है। प्रकृति में भी क्रिया की ही प्रधानता पाई जाती है। यह सृष्टि-चक्र शाश्वत क्रियाचक्रही है। क्रियामात्र का समन्वय ही सांस्कृतिक समन्वय कहा जा सकता है। वैदिक आर्यों ने यह समन्वय किस प्रकार किया, यही देखना है। हम देखते हैं कि वे आर्य प्रकृति से ही संरक्षणशील और विवेकवाक् थे; इसलिए आरंभ से ही वे अनिष्ट क्रिया का परित्याग और इष्ट का संचय, संग्रह और स्तुति करने को उद्यत हुए। उन्होंने इस विस्तृत वस्तु-जगत् का रहस्योद्घाटन करने वाली अनेक विद्याओं की सृष्टि की। उनके

उद्योगों में सामूहिक प्रयास की छाप लगी हुई है। आरंभिक वैदिक संस्कृति से हम व्यक्ति या वर्ग की विभिन्नता नहीं पाते। आर्यों के सभी कार्यों की निर्णायिका प्राकृतिक चेतना ही थी, इसीलिए किसी प्रकार का द्विधा भाव उनमें दिखाई नहीं देता। जीवन की परिस्थिति में क्लेश की सत्ता को उन्होंने शक्ति से जीतने की चेष्टा की और जीता। इन्द्र देवता इस शक्ति और विजय के ही स्मारक हैं। प्राकृतिक विभूतियों से आदर और अनुराग, प्राकृतिक पदार्थों का अन्वेषण और अनुसंधान, प्राकृतिक अनिष्टों का तिरस्कार और पराभव, यही आर्यों की आदिम संस्कृति कही जा सकती है। नवीन अनुभव प्राप्त करने की, नवीन प्रभोग सिद्ध करने की, नवीन विजय-लाभ करने की लालसा उनमें भरी हुई थी। यद्यपि यह सृष्टिचक्र क्रिया-मात्र है; परंतु वह अभिनव क्रियाओं का युग शिशु प्रकृति की विकासोन्मुख अवस्था की ओर संकेत कर रहा था; उसके यौवन की सूचना दे रहा था। उस काल में जीवन का सारा आनंदोल्लास प्रत्यक्ष हुआ था; प्रकृति के अंग-अंग खिल उठे थे। आर्यों ने उन संपूर्ण अंगों को एक-एक कर देखा, किंतु उनमें कहीं कोई वैषम्य न पाया। जड़, चेतन, स्थूल, अस्थूल; सभी एक अनुपम सौंदर्य से ओत-प्रोत दिखाई दिए। केवल प्रकृति में जो अप्राकृतिक था, दुरूह था, अनिष्ट था; आर्यगण उसी के एक मात्र संहारक हुए। बादाम के कड़े छिलके को फोड़कर खाना ही नियम है। अनिष्ट की सत्ता को दूर कर देना ही संस्कृति है।

यह इष्टानिष्ट-विवेक आर्यों ने प्राकृतिक प्रेरणा, सहज बुद्धि या व्यापक चेतना के द्वारा प्राप्त किया था; इसलिए उनकी संस्कृति भी पूर्ण प्राकृतिक हो सकी। व्यक्तिगत मनुष्य-स्वभाव की परीक्षा और विकास की पहचान सामूहिक क्रिया-कलाप और रीति-नीति; प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान और प्राकृतिक भेदों की परख और समन्वय; विस्तृत जगत् के रहस्यों का परिचय और मानव-हित के लिए उसका उपयोग—ये सभी संस्कृति की रचनात्मक चेष्टाएं मूल वैदिक विचरणा में उपस्थित हैं। फलतः मनुष्य को किसी मार्ग-विशेष से चलने के लिए बाध्य न कर लक्ष्य-लक्ष्य जीवनोपाय स्वीकार करना वैदिक संस्कृति की विशेषता हुई। तो भी यदि पूछा जाय कि वह एक वस्तु क्या है जिसके आधार पर वैदिक संस्कृति की रूपरेखा

गठित हुई या कम-से-कम उसकी प्रमुख आकृति का निर्माण हुआ, तो निस्संदेह वह वस्तु देवता के लिए सर्व-कर्म-समर्पण की साधना ही कही जाएगी। इस साधना में त्याग, सहिष्णुता, क्रियाशीलता, बुद्धि की दृढ़ता आदि वे सभी गुण सन्निहित हैं जिनका उल्लेख शास्त्रों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। विकास का यही प्रधान उपाय वेदों में प्रदर्शित किया गया है। यह संपूर्ण तपस्या देवताओं के लिए करने की व्यवस्था इसलिए चलाई गई कि संस्कृति एक केंद्र में स्थित हो और युगों-युगों में उसकी स्मृति जागृत रहे। विकास का मार्ग दिव्य शक्तियों के आश्रित कर देने से सत्यकार्य की अधिक प्रवृत्ति होने की संभावना थी। क्रिया के अंकुश, अभिमान, संकल्प-विकल्प आदि भी उत्पन्न न हों और संपूर्ण शुभ का एक स्थान पर समाहार भी हो सके, दोनों ही लक्ष्य इससे सिद्ध हुए।

जैसे-जैसे मनुष्य की तपस्या के आख्यान बढ़ने लगे और जगत् के अनेक क्षेत्रों और विभागों से उसके उदाहरण आने लगे, वैसे-वैसे देवताओं का स्वरूप अधिकाधिक विशेषणों से संयुक्त होकर रहस्यमय होता गया। इतिहास की सभी उल्लेखनीय घटनाएं देवताओं के व्यक्तित्व में स्थान पाने लगीं। धीरे-धीरे उनका स्वरूप अनेकविध वार्ताओं से आच्छादित होने लगा। यद्यपि आर्यों ने उन-उन देवताओं के मूल व्यक्तित्व के अनुसार ही बहुविध घटनाओं का संग्रथन किया; तथापि समय की बढ़ती हुई घटनावली के लिए वे देवता कहां तक पर्याप्त हो सकते थे ? परिणाम यह हुआ कि आख्यानों की अधिकता के कारण देवताओं का व्यक्तित्व दुरूह और अज्ञेय हो उठा। यद्यपि वे सब आख्यान सांस्कृतिक विकास अथवा तपस्या-संबंधी ही थे; तथापि उनमें स्वतः इतनी अनेकरूपता आ गई कि उन्होंने देवताओं के साथ संयुक्त होकर उनका रूप अविज्ञेय बना दिया। आगे चलकर देवतागण उन-उन कथाओं के स्मारक मात्र रह गये। मनुष्य उनका अनुकरण करने के योग्य न रहे। इस प्रकार वैदिक देवताओं का आरंभ तो व्यक्तिगत, प्राकृतिक और नैतिक प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप में हुआ, परंतु उनकी परिणति एक बृहत् सामूहिक संस्कृति के भारवाही के रूप में हो गई। आज जब हम देवताओं के चरित्रों को पढ़ते हैं तब उनमें कई प्रकार की विश्रृंखलता और आचारहीनता भी प्राप्त करते हैं। कुछ लोग इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि महान्

विभूतियां आचार की क्षुद्र शृंखलाओं को तोड़ डालती हैं; उत्कर्ष पूर्ण व्यक्तित्व का अर्थ ही है सामान्य मानवीय हिताहित की धारणाओं से ऊपर उठना; परंतु मेरे विचार से प्राकृतिक और नैतिक आचार ही संस्कृति का मेरुदंड है। इसी पथ पर चलकर मानव-व्यक्तित्व उच्चातिउच्च हो सकता है। देवता भी तभी तक देवता हैं, जब तक वे भी इसी पथ के पथिक हैं। उनकी सत्ता तब जीर्ण हो उठती है जब अनेक आख्यायिकाएं उनसे जुड़कर उन्हें एक अलौकिक स्वरूप प्रदान करती हैं। उस अवस्था में महत्त्व उन आख्यायिकाओं का रहता है, उस देवता को ही स्तुति मिलती है। वह मानवीय समस्याओं का कोई आदर्श नहीं होता, केवल अपना रहस्यमय व्यक्तित्व लेकर संस्कृति के संरक्षण का उपादान बना रहता है। तब उसकी सत्ता अति मानवीय या लोकोत्तर बन जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि इस लोकोत्तर सत्ता का मनुष्य जीवन में कोई उपयोग नहीं; वह सत्ता तो युगों के जीवन को सुव्यवस्थित करती और सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री बनकर सुरक्षित रहती है। परंतु कठिनाई यह होती है कि हम उसकी यथार्थता न समझकर उसके तथाकथित कार्यों की अनुकृति करना चाहते हैं।

देवताओं की यह अतिमानवीय सत्ता एक ओर तो संस्कृति की अत्यंत विकसित अवस्था की सूचना देती है और दूसरी ओर उसके ह्रास की भी। विकास तो संस्कृति के अंतरंग या भाव का हुआ और ह्रास उसके वहिरंग रूप या शरीर का। जैसे प्रौढ़ वय का मनुष्य प्रौढ़ता के साथ-साथ शैथिल्य की ओर बढ़ता जाता है, वैसी ही अवस्था संस्कृति की भी होती है। वह अवस्था सांस्कृतिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जातियों का उत्थान या विनाश यहीं से आरंभ होता है। देश के दार्शनिक नेताओं के बुद्धि-वैभव की परीक्षा इसी समय होती है। साधारण जन-समाज अंतरंग या भाव की बात नहीं समझता, उसे तो वाह्य रूप ही चाहिए; किंतु वैदिक संस्कृति का बाह्य रूप तो शिथिल हो चला था; फलतः इस देश के दार्शनिकों ने जगत् के वाह्य रूप की निस्सारता का प्रचार आरंभ किया। उपनिषदों और गीता आदि में आत्म-तत्त्व की प्रधान शिक्षा दी गई। स्मरण रखना चाहिए कि इस उपनिषद्-शिक्षा का प्रकाश उच्चातिउच्च

सांस्कृतिक स्थिति में हुआ था, तो भी बिना बहिरंग के जनसमाज का समाधान नहीं हो सका। परिणामस्वरूप वैदिक संस्कृति कुछ काल के लिए पिछड़ गई और इस देश से महात्मा बुद्ध के प्रभाव से नवीन बौद्ध संस्कृति का उदय हुआ। किंतु यह बात कदापि न भूलनी चाहिए कि वैदिक युग का अंतरंग सांस्कृतिक विकास अक्षुण्ण बना रहा। इसी प्रकार आर्य संस्कृति की धारा अटूट रूप से ही बहती रही, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उनकी वेद-कालीन प्रांजल और प्रशस्त गति में विक्षेप भी पड़े; बौद्धों ने समायोजित सांस्कृतिक रक्षा का कार्य कम नहीं किया और अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्होंने इस देश के जातीय जीवन को वह संजीवनी शक्ति दी जिसके बिना 'यूनान, मिस्र, रोमां सब मिट गए जहां से, बाकी है जग में अब भी, नामोनिशां हमारा' की उक्ति चरितार्थ न होती।

किंतु ऊपर के वक्तव्य का यह अर्थ नहीं है कि उपनिषदों के आम तत्त्व का प्रचार कर वैदिक ऋषियों ने देव-संस्कृति का अंत कर दिया। हमारा सर्वोत्कृष्ट दर्शन संस्कृति का विघातक कैसे हो सकता है? निर्जीव रूढ़ियों के परिवर्तन के लिए संस्कृति देहांतर प्राप्ति की आवश्यकता थी; एतदर्थ उन आर्य मनीषियों ने कुछ भी मोह नहीं किया, और उस उच्चातिउच्च तत्त्व की शिक्षा दी जो नितांत अविनश्वर है। वेदांत दर्शन के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि संसार से संबंध छोड़ देने पर ही इसकी साधना की जा सकती है। परंतु वेदांत के मैं दो प्रधान उद्देश्य मानता हूं: एक तो देवता तत्त्व या मूल वैदिक संस्कृति के प्रति जन-समाज की बढ़ती हुई भ्रांति को दूर करना और दूसरे, एक परमोत्कृष्ट तत्त्व की घोषणा कर उखड़ती हुई संस्कृति को नवजीवन प्रदान करना। ये दोनों ही कार्य भारतीय इतिहास में अपूर्व महत्त्व रखते हैं। हम कह चुके हैं कि वैदिक देवता, जो आरंभ में हित के प्रयत्नस्वरूप ही थे, आगे चलकर अत्यधिक भारग्रस्त हो गए। वैदिक समाज, जो आरंभ में क्रियाशील था, आगे चलकर उसी अनुपात में अनुकरणशील होने लगा। संस्कृति, जो उत्थानमूलक थी, प्रसरणशील होने लगी। स्तुतियां, जो पहले रूप-प्रधान थीं, अब भाव-प्रधान होने लगीं। उद्भावना का स्थान संरक्षण ने ले लिया। यह परिवर्तन तो समय की स्वाभाविक गति से ही हो रहा था, पर इसके कारण विकास की गति

मंद न पड़ जाए, उसकी दिशाएं विस्मृत न हो जाएं, यह आशंका हो रही थी; इसलिए हित-तत्त्व या संस्कृति की एक नवीन व्याख्या आत्म-सत्ता या आनंद की संज्ञा से की गई। आत्मा एक नित्य-तत्त्व कहकर उद्घोषित हुआ।

सामूहिक आनंद की धारणा ही वेदांत आत्मसत्ता के मूल में है; परंतु मैं यही नहीं मानता कि इसकी साधना जंगल में रहकर ही हो सकती है। इस आत्मतत्त्व के अंतर्गत तो साधारण-से-साधारण सांस्कृतिक मनोभाव भी आ सकते हैं और संसार-त्यागी महात्माओं की ऊंची-से-ऊंची साधनाएं भी आ सकती हैं। जो विद्या अपनी प्रिय वस्तु की भावना में अपने को भूल जाती है वही तो श्रेयस्कर है। वेदों का प्राकृतिक विकास का मार्ग यही है। क्रिया-मात्र का मूल्य उस आनंद में ही है जिसकी वह सृष्टि करती है। उसका स्वतः कोई मूल्य नहीं है। क्रिया की स्तुति नहीं की जाती, स्तुति तो देवता की की जाती है, जो आनंद-स्वरूप है। स्तुति तो संस्कृति की की जाती है, जो व्यक्ति में तपस्या रूप से और समूह में आनंद रूप से प्रतिफलित होती है। क्रियाओं की सापेक्षता से भ्रम उत्पन्न होता है। क्रियाएं आनंद में प्रवृत्त करने के लिए भी हो सकती हैं, निरानंद से निवृत्त करने के लिए भी हो सकती हैं; इसलिए वे प्रायः द्विधा-भाव उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार के भ्रामक विपर्ययों से बचने के लिए ही चेतन आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा की गई, और वह दोरंगी दुनिया उस विवेचन से अलग रखी गई। फिर किसी विशेष क्रिया-चक्र या आचार-क्रम का निरूपण और भी कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित करता है, जिनका उल्लेख करना यहां आवश्यक नहीं। प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हीं का परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कही जा सकती है। वेदों में यह परिष्कार जिस व्यापक और सर्वतोमुखी रूप में किया गया; दुःख के उच्छेद और सुख की समृद्धि के जितने व्यवस्थित उपाय वैदिक युग में किए गए, शायद ही कभी किए गए हों या किए जाएं। इसलिए वैदिक संस्कृति पर हमें इतना गर्व है। इस वैदिक संस्कृति का पूर्ण परिपाक वेदांत में हुआ। इसीलिए हमें उसका इतना गौरव है।

●●

सोना

महादेवी वर्मा

सोना की आज अचानक स्मृति हो आने का कारण है। मेरे परिचित स्वर्गीय डॉ० धीरेन्द्रनाथ वसु की पौत्री सुस्मिता ने लिखा है, "गत वर्ष अपने पड़ौसी से मुझे एक हिरन मिला था। बीते कुछ महीनों में हम उससे बहुत स्नेह करने लगे हैं। परंतु अब मैं अनुभव करती हूं कि सघन जंगल से संबद्ध रहने के कारण तथा अब बड़े हो जाने के कारण उसे घूमने के लिए अधिक विस्तृत स्थान चाहिए।

"क्या कृपा करके आप उसे स्वीकार करेंगी? सचमुच मैं आपकी बहुत आभारी हूंगी, क्योंकि आप जानती हैं, मैं उसे ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहती जो उससे बुरा व्यवहार करे। मेरा विश्वास है, आपके यहां उसकी भली-भांति देखभाल हो सकेगी।"

कई वर्ष पूर्व मैंने यह निश्चय किया था कि अब हिरन नहीं पालूंगी, परंतु आज उस नियम को भंग किए बिना इस कोमल-प्राण जीव की रक्षा संभव नहीं है।

सोना भी इसी प्रकार अचानक आई थी, परंतु वह तब तक अपनी शैशवावस्था भी पार नहीं कर सकी थी। सुनहरे रंग के रेशमी लच्छों की गांठ के समान उसका कोमल लघु शरीर था। छोटा-सा मुंह और बड़ी-बड़ी पानीदार आंखें। देखती थीं तो लगता था कि अभी छलक पड़ेंगी। लंबे कान, पतली सुडौल टांगें, जिन्हें देखते ही उनमें प्रसुप्त गति की बिजली की लहर देखने वाले की आंखों में कौंध जाती थी। सब उसके

सरल शिशु रूप से इतने प्रभावित हुए कि किसी चंपकवर्णा रूपसी के उपयुक्त सोना, सुवर्णा, स्वर्णलेखा आदि नाम उसका परिचय बन गए।

परंतु उस बेचारे हरिण-शावक की कथा तो मिट्टी की ऐसी व्यथा कथा है, जिसे मनुष्य की निष्ठुरता गढ़ती है। वह न किसी दुर्लभ खान के अमूल्य हीरे की कथा है और न अथाह समुद्र के महार्घ मोती की।

निर्जीव वस्तुओं से मनुष्य अपने शरीर का प्रसाधन मात्र करता है, अतः उनकी स्थिति में परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ कथनीय नहीं रहता। परंतु सजीव से उसे शरीर या अहंकार का जैसा पोषण अभीष्ट है, उसमें जीवन-मृत्यु का संघर्ष है जो सारी जीवन-कथा का तत्त्व है।

जिन्होंने हरीतिमा में लहराते हुए मैदान पर छलांगें भरते हुए हिरनों के झुंड को देखा होगा, वही उस अद्भुत, गतिशील सौंदर्य की कल्पना कर सकता है मानो तरल मरकत के समुद्र में सुनहले फेनवाली लहरों का उद्वेलन हो। परंतु जीवन के इस चल सौंदर्य के प्रति शिकारी का आकर्षण नहीं रहता। मैं प्रायः सोचती हूं कि मनुष्य, जीवन की ऐसी सुंदर ऊर्जा को निष्क्रिय और जड़ बनाने के कार्य को मनोरंजन कैसे कहता है।

मनुष्य मृत्यु को असुंदर ही नहीं अपवित्र भी मानता है। उसके प्रियतम आत्मीयजन का शव भी उसके निकट अपवित्र, अस्पृश्य तथा भयानक हो उठता है। जब मृत्यु इतनी अपवित्र और असुंदर है तब उसे बांटते घूमना क्यों अपवित्र और असुंदर कार्य नहीं है, यह मैं समझ नहीं पाती।

आकाश में रंग-बिरंगे फूलों की घटाओं के समान उड़ते हुए और वीणा, वंशी, मुरज, जलतरंग आदि का वृंदवादन बजाते हुए पक्षी कितने सुंदर जान पड़ते हैं। मनुष्य ने बंदूक उठाई, निशाना साधा और कई गाते-उड़ते पक्षी धरती पर ढेले के समान आ गिरे। किसी की लाल-पीली चोंच वाली गर्दन टूट गई है, किसी के पीले सुंदर पंजे टेढ़े हो गए हैं और किसी के इंद्रधनुषी पंख बिखर गए हैं। क्षत-विक्षत रक्तस्नात उन मृत-अर्धमृत लघु गातों में न अब संगीत है न सौंदर्य, परंतु तब भी मारने वाला अपनी सफलता पर नाच उठता है।

पक्षीजगत में ही नहीं, पशुजगत में भी मनुष्य की ध्वंसलीला ऐसी ही निष्ठुर है। पशुजगत में हिरन जैसा निरीह और सुंदर दूसरा पशु नहीं है,

उसकी आंखें तो मानो करुणा की चित्रलिपि हैं। परंतु इसका भी गतिमय, सजीव सौंदर्य मनुष्य का मनोरंजन करने में असमर्थ है। मानव को, जो जीवन का श्रेष्ठतम रूप है, जीवन के अन्य रूपों के प्रति इतनी वितृष्णा और विरक्ति और मृत्यु के प्रति इतना मोह और इतना आकर्षण क्यों?

बेचारी सोना भी मनुष्य की इसी निष्ठुर मनोरंजनप्रियता के कारण अपने अरण्य परिवेश और स्वजाति से दूर मानव-समाज में आ पड़ी थी।

प्रशांत वनस्थली में जब अलस भाव से रोमंथन करता हुआ मृग-समूह शिकारियों की आहट से चौंककर भागा, तब सोना की मां सद्यः-प्रसूता होने के कारण भागने में असमर्थ रही। सद्यःजात मृगशिशु तो भाग नहीं सकता था, अतः मृगी मां ने अपनी संतान को अपने शरीर की ओट में सुरक्षित रखने के प्रयास में प्राण दिए।

पता नहीं, दया के कारण या कौतुकप्रियता के कारण शिकारी मृत हिरनी के साथ उसके रक्त से सने और ठंडे स्तनों से चिपके हुए शावक को जीवित उठा लाए। उनमें से किसी के परिवार की सदय गृहिणी और बच्चों ने उसे पानी मिला दूध पिला-पिलाकर दो-चार दिन जीवित रखा।

सुस्मिता बसु के समान ही किसी बालिका को मेरा स्मरण हो आया और वह उस अनाथ शावक को मुमूर्षावस्था में मेरे पास ले आई। शावक अवांछनीय तो था ही, उसके बचने की आशा भी धूमिल थी, परंतु मैंने उसे स्वीकार कर लिया। स्निग्ध सुनहले रंग के कारण सब उसे सोना कहने लगे। दूध पिलाने की शीशी, ग्लूकोज, बकरी का दूध आदि सब-कुछ एकत्र करके, उसे पालने का कठिन अनुष्ठान आरंभ हुआ।

उसका मुख इतना छोटा-सा था कि उसमें शीशी का निपल समाता ही नहीं था, उस पर उसे पीना भी नहीं आता। फिर धीरे-धीरे उसे पीना ही नहीं दूध की बोतल पहचानना भी आ गया। आंगन में कूदते-फांदते हुए भी भक्तिन को बोतल साफ करते देखकर वह दौड़ आती और अपनी तरल चकित आंखों से उसे ऐसे देखने लगती मानो वह कोई सजीव मित्र हो।

उसने रात में मेरे पलंग के पाये से सटकर बैठना सीख लिया था, पर वहां गंदा न करने की आदत कुछ दिनों के अभ्यास से पड़ सकी। अंधेरा

होते ही वह मेरे पलंग के पास आ बैठती और फिर सवेरा होने पर ही वह बाहर निकलती।

उसका दिनभर का कार्यकलाप भी एक प्रकार से निश्चित था। विद्यालय और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के निकट पहले वह कौतुक का कारण रही; परंतु कुछ दिन बीत जाने पर वह उनकी ऐसी प्रिय साथिन बन गई जिसके बिना उनका किसी काम में मन ही नहीं लगता था।

दूधपीकर और भीगे चने खाकर सोना कुछ देर कंपाउंड में चारों पैरों को संतुलित कर चौकड़ी भरती। फिर वह छात्रावास पहुंचती और प्रत्येक कमरे का भीतर-बाहर निरीक्षण करती। सवेरे छात्रावास में विचित्र-सी क्रियाशीलता रहती है, कोई छात्रा हाथ-मुंह धोती है, कोई बालों में कंघी करती है, कोई साड़ी बदलती है, कोई अपनी मेज की सफाई करती है, कोई स्नान कर भीगे कपड़े सूखने के लिए फैलाती है और कोई पूजा करती है। सोना के पहुंच जाने पर इस विविध कर्मसंकुलता में एक नया काम और जुड़ जाता था। कोई छात्रा उसके माथे पर कुमकुम का बड़ा-सा टीका लगा देती, कोई पूजा के बताशे खिला देती।

मेस में उसके पहुंचते ही छात्राएं ही नहीं नौकर-चाकर तक दौड़ आते और सभी उसे कुछ-न-कुछ खिलाने को उतावले रहते, परंतु उसे बिस्कुट को छोड़कर कम खाद्य-पदार्थ पसंद थे।

छात्रावास का जागरण और जलपान अध्याय समाप्त होने पर वह घास के मैदान में कभी दूब चरती और कभी उस पर लोटती रहती। मेरे भोजन का समय वह किस प्रकार जान लेती थी, यह समझने का उपाय नहीं है, परंतु वह ठीक उसी समय भीतर आ जाती और तब तक मुझसे सटी खड़ी रहती जब तक मेरा खाना समाप्त न हो जाता। कुछ चावल, रोटी आदि उसका भी प्राप्य था, परंतु उसे कच्ची सब्जी ही अधिक भाती थी।

घंटी बजते ही वह फिर प्रार्थना के मैदान में पहुंच जाती और उसके समाप्त होने पर छात्राओं के समान ही कक्षाओं के भीतर-बाहर चक्कर लगाना आरंभ करती।

उसे छोटे बच्चे अधिक प्रिय थे, क्योंकि उनके साथ खेलने का अधिक

अवकाश रहता था। वे पंक्तिबद्ध खड़े होकर सोना-सोना पुकारते और वह उनके ऊपर से छलांग लगाकर एक ओर से दूसरी ओर कूदती रहती। वह सरकस जैसा खेल कभी घंटों चलता, क्योंकि खेल के घंटों में वच्चों की एक कक्षा के उपरांत दूसरी आती रहती।

मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन के कई प्रकार थे। वाहर खड़े होने पर वह सामने या पीछे से छलांग लगाती और मेरे सिर के ऊपर से दूसरी ओर निकल जाती। प्रायः देखने वालों को भय होता था कि उसके पैरों से मेरे सिर पर चोट न लग जाए, परंतु वह पैरों को इस प्रकार सिकोड़े रहती थी और मेरे सिर को इतनी ऊंचाई से लांघती थी कि चोट लगने की कोई संभावना नहीं रहती थी।

भीतर आने पर वह मेरे पैरों से अपना शरीर रगड़ने लगती। मेरे वैठे रहने पर वह साड़ी का छोर मुंह में भर लेती और कभी पीछे चुप-चाप खड़े होकर चोटी ही चवा डालती। डांटने पर वह अपनी वड़ी गोल और चकित आंखों में ऐसी अनिर्वचनीय जिज्ञासा भरकर एकटक देखने लगती कि हंसी आ जाती।

कवि-गुरु कालिदास ने अपने नाटक में मृगी, मृग-शावक आदि को इतना महत्त्व क्यों दिया है, यह हिरन पालने के उपरांत ही ज्ञात होता है।

पालने पर वह पशु न रहकर ऐसा स्नेही संगी बन जाता है जो मनुष्य के एकांत शून्य को तो भर देता है, परंतु खीझ उत्पन्न करने वाली जिज्ञासा से उसे वोझिल नहीं वनाता। यदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से केवल नेत्रों से वात कर सकता तो बहुत से विवाद समाप्त हो जाते, परंतु प्रकृति को यह अभीष्ट नहीं रहा होगा।

संभवतः इसी से मनुष्य वाणी द्वारा परस्पर किए गए आघातों और सार्थक शव्दभार से दवे हुए अपने प्राणों पर इन भाषाहीन जीवों की स्नेह-तरल दृष्टि का चंदन का लेप लगाकर स्वस्थ और आश्वस्त होना चाहता है।

पशु मनुष्य के निश्चल स्नेह से परिचित रहते हैं, उसकी ऊंची-नीची सामाजिक स्थितियों से नहीं, यह सत्य मुझे सोना से अनायास प्राप्त हो गया।

अनेक विद्यार्थिनियों की भारी-भरकम गुरुजी से सोना को क्या लेना-देना था। वह तो उस दृष्टि को पहचानती थी जिसमें उसके लिए स्नेह छलकता था और उन हाथों को जानती थी जिन्होंने यत्नपूर्वक दूध की बोतल उसके मुख से लगाई थी।

यदि सोना को अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए मेरे सिर के ऊपर से कूदना आवश्यक लगेगा तो वह कूदेगी ही। मेरी किसी अन्य परि-स्थिति से प्रभावित होना, उसके लिए संभव ही नहीं था।

कुत्ता स्वामी और सेवक का अंतर जानता है और स्वामी के स्नेह या क्रोध की प्रत्येक मुद्रा में परिचित रहता है। स्नेह से बुलाने पर वह गद्गद होकर निकट आ जाता है और क्रोध करते ही सभीत और दयनीय बनकर दुबक जाता है।

पर हिरन यह अंतर नहीं जानता, अतः उसका पालनेवाले से डरना कठिन है। यदि उस पर क्रोध किया जाए तो वह अपनी चकित आंखों में और अधिक विस्मय भरकर पालनेवाले की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर खड़ा रहेगा—मानो पूछता हो : क्या यह उचित है। वह केवल स्नेह पहचानता है, जिसकी स्वीकृति जताने के लिए उसकी विशेष चेष्टाएं हैं।

मेरी बिल्ली गोधूली, कुत्ते हेमंत-वसंत, कुत्ती फ्लोरा सब पहले इस नये अतिथि को देखकर रुष्ट हुए, परंतु सोना ने थोड़े ही दिनों में सबसे सख्य स्थापित कर लिया। फिर तो वह घास पर लेट जाती और कुत्ते और बिल्ली उस पर उछलते कूदते रहते। कोई उसके कान खींचता, कोई पैर, और जब वे इस खेल में तन्मय हो जाते तब वह अचानक चौकड़ी भरकर भागती और वे गिरते-पड़ते उसके पीछे दौड़ लगाते।

वर्ष-भर का समय बीत जाने पर सोना हरिण-शावक से हरिणी में परिवर्तित होने लगी। उसके शरीर के पीताभ रोएं ताम्रवर्णी झलक देने लगे। टांगें अधिक सुडौल और खुरों के कालेपन में चमक आ गई। ग्रीवा अधिक वंकिम और लचीली हो गई। पीठ में भराववाला उतार-चढ़ाव और स्निग्धता दिखाई देने लगी। परंतु सबसे बड़ी विशेषता तो उसकी आंखों और दृष्टि में मिलती थी। आंखों के चारों ओर खिंची कज्जलकोर के नीले गोलक और दृष्टि ऐसी लगती थी मानो नीलम के

बल्वों में उजली विद्युत् का स्फुरण हो।

संभवतः अब उसमें वन तथा स्वजाति का स्मृति-संस्कार जगने लगा था। प्रायः सूने मैदान में वह गर्दन ऊंची करके किसी की आहट की प्रतीक्षा में खड़ी रहती। बासंती हवा बहने पर यह मूक प्रतीक्षा और अधिक मार्मिक हो उठती। शैशव के साथियों और उसकी उछल-कूद से अब उसका पहले जैसा मनोरंजन नहीं होता था, अतः उसकी प्रतीक्षा के क्षण अधिक हो जाते।

इसी बीच फ्लोरा ने भक्तिन की कुछ अंधेरी कोठरी के एकांत कोने में चार बच्चों को जन्म दिया और वह खेल के संगियों को भूलकर अपनी नवीन सृष्टि के संरक्षण में व्यस्त हो गई। एक-दो दिन सोना अपनी सखी को खोजती रही, फिर उसे इतने लघु जीवों से घिरा देखकर उसकी स्वाभाविक चकित दृष्टि गंभीर विस्मय से भर गई।

एक दिन देखा, फ्लोरा कहीं बाहर घूमने गई है और सोना भक्तिन की कोठरी में निश्चिंत लेटी है। पिल्ले आंखें बंद रहने के कारण चीं-चीं करते हुए सोना के उदर में दूध खोज रहे थे। तब से सोना के नित्य के कार्यक्रम में पिल्लों के बीच में लेट जाना भी सम्मिलित हो गया। आश्चर्य की बात यह भी थी कि फ्लोरा हेमंत, बसंत या गोधूली को तो अपने बच्चों के पास फटकने भी नहीं देती थी, परंतु सोना के संरक्षण में उन्हें छोड़कर आश्वस्त भाव से इधर-उधर घूमने चली जाती थी।

संभवतः वह सोना की स्नेही और अहिंसक प्रकृति से परिचित हो गई थी। पिल्लों के बड़े होने पर और उनकी आंखें खुल जाने पर सोना ने उन्हें भी अपने पीछे घूमने वाली सेना में सम्मिलित कर लिया और मानो इस वृद्धि के उपलक्ष्य में आनंदोत्सव मनाने के लिए अधिक देर तक मेरे सिर से आर-पार चौकड़ी भरती रही। पर कुछ दिनों के उपरांत जब यह आनंदोत्सव पुराना पड़ गया, तब उसकी शब्दहीन, संज्ञाहीन प्रतीक्षा की स्तब्ध घड़ियां लौट आईं।

उसी वर्ष गर्मियों में मेरा बद्रीनाथ की यात्रा का कार्यक्रम बना। प्रायः मैं अपने पालतू जीवों के कारण प्रवास में कम रहती हूं। उनकी देख-रेख के लिए सेवक रहने पर भी मैं उन्हें छोड़कर आश्वस्त नहीं हो

पाती। भक्तिन, अनुरूप आदि तो साथ जाने वाले थे ही। पालतू जीवों में से मैंने फ्लोरा को साथ ले जाने का निश्चय किया, क्योंकि वह मेरे बिना रह नहीं सकती थी।

छात्रावास बंद था, अत: सोना के नित्य नैमित्तिक कार्यकलाप भी बंद हो चुके थे। मेरी उपस्थिति का भी अभाव था, अत: आनंदोल्लास के लिए भी अवकाश कम था। हेमंत-वसंत मेरी यात्रा और तज्जनित अनुपस्थिति से परिचित हो चुके थे। होल्डाल बिछाकर उसमें बिस्तर रखते ही वे दौड़कर उस पर लेट जाते और भौंकने तथा क्रंदन की ध्वनियों के सम्मिलित स्वर में मुझे मानो उपालंभ देने लगते। यदि उन्हें बांध न रखा जाता तो वे कार में घुसकर बैठ जाते या उसके पीछे-पीछे दौड़कर स्टेशन तक जा पहुंचते। परंतु जब मैं चली जाती तब वे उदास भाव से मेरे लौटने की प्रतीक्षा करने लगते।

सोना की सहज चेतना में न मेरी यात्रा जैसी स्थिति का बोध था न प्रत्यावर्तन का; इसी से उसकी निराश जिज्ञासा और विस्मय का अनुमान मेरे लिए सहज था।

पैदल जाने-आने के निश्चय के कारण बद्रीनाथ की यात्रा में ग्रीष्मावकाश समाप्त हो गया। २ जुलाई को लौटकर जब मैं बंगले के द्वार पर आ खड़ी हुई तब बिछुड़े हुए पालतू जीवों में कोलाहल होने लगा।

गोधूली कूदकर मेरे कंधे पर आ बैठी। हेमंत-वसंत मेरे चारों ओर परिक्रमा करके हर्ष की ध्वनियों से मेरा स्वागत करने लगे। पर मेरी दृष्टि सोना को खोजने लगी। क्यों वह अपना उल्लास व्यक्त करने के लिए मेरे सिर के ऊपर से छलांग नहीं लगाती? सोना कहां है, पूछने पर माली आंखें पोंछने लगा और चपरासी, चौकीदार एक-दूसरे का मुख देखने लगे। वे लोग आने के साथ ही कोई दुखद समाचार नहीं देना चाहते थे, परंतु माली की भावुकता ने बिना बोले ही उसे दे डाला।

ज्ञात हुआ कि छात्रावास के सन्नाटे और फ्लोरा के तथा मेरे अभाव के कारण सोना इतनी अस्थिर हो गई थी कि इधर-उधर कुछ खोजती-सी वह प्राय: कंपाउंड से बाहर निकल जाती थी। इतनी बड़ी हिरनी को पालने वाले तो कम थे, परंतु इससे खाद्य और स्वाद पैदा करने के

इच्छुक व्यक्तियों का बाहुल्य था। इसी आशंका से माली ने उसे मैदान में एक लंबी रस्सी से बांधना आरंभ कर दिया था।

एक दिन न जाने किस स्तब्धता की स्थिति में बंधन की सीमा भूलकर वह बहुत ऊंचाई तक उछली और रस्सी के कारण मुख के बल धरती पर जा गिरी। वही उसकी अंतिम सांस और अंतिम उछाल थी।

सब उस सुनहले रेशम की गठरी-से शरीर को गंगा में प्रवाहित कर आए और इस प्रकार किसी निर्जन वन में जन्मी और जन-संकुलता में पली सोना की करुण कहानी का अंत हुआ।

सब सुनकर मैंने निश्चय किया था कि अब हिरन नहीं पालूंगी, पर संयोग से फिर हिरन पालना पड़ रहा है।

●●

फतहपुर सीकरी

रघुवीर सिंह

संसार का सबसे बड़ा विजय-तोरण, वह बुलंद दरवाजा, छाती निकाले दक्षिण की ओर देख रहा है। इसने उन मुगल योद्धाओं को देखा होगा जो सर्वप्रथम मुगल साम्राज्य के विस्तार के लिए दक्षिण की ओर बढ़े थे। इसने विद्रोही औरंगजेब की उमड़ती हुई सेना को घूरा होगा, और पास ही पराजित दारा के स्वरूप में अकबर के आदर्शों का पतन भी इसे देख पड़ा होगा। अंतिम मुगलों की सेनाएं भी इसी के सामने होकर निकली होंगी। वे सेनाएं जिनमें नर्तकियां और स्त्रियां भी रणक्षेत्र पर जाती थीं और रणक्षेत्र को भी विलासभूमि में परिणत कर देती थीं। यदि आज यह दरवाजा अपने संस्मरण कहने लगे, पत्थरों का यह ढेर बोल उठे, तो भारत के न जाने कितने अज्ञात इतिहास का पता लग जाए और न जाने कितनी ऐतिहासिक त्रुटियां ठीक की जा सकें।

यह एक विजय-तोरण है, खानदेश की विजय का स्मारक। किंतु यदि देखा जाये तो यह दरवाजा अकबर द्वारा भारतीय सभ्यता पर प्राप्त की गई विजय का ही एक महान् स्मारक है। अकबर ने अपने हृदय की विशालता को इस दरवाजे की विशालता में व्यक्त किया है :

"यह संसार एक पुलिया है, इसके ऊपर से निकल जा, किंतु इस पर घर बनाने का विचार मन में न ला। जो यहां एक घंटा-भर भी ठहरने का इरादा करेगा वह चिरकाल तक यहां ही ठहरने को उत्सुक हो जाएगा। सांसारिक जीवन तो एक घड़ी-भर का ही है; उसे ईश्वर स्मरण तथा

भगवद्भक्ति में विता; ईश्वरोपासना के अतिरिक्त सब-कुछ व्यर्थ है, सब-कुछ असार है।

सांसारिक जीवन की असारता-संबंधी इन पंक्तियों को एक विजय-तोरण पर देखकर कुतूहल होता है। अकबर मानस-जीवन के रहस्य को ढूंढ़ निकालने तथा दो पूर्णतया भिन्न सभ्यताओं का मिश्रण करने निकला था, किंतु वह वास्तविक वस्तु तक नहीं पहुंच पाया, मृगतृष्णा के जल के नाईं उन्हें ढूंढ़ता रहा और उसे अंत तक उनका पता न मिला। जीवन-भर अकबर भारतीय तथा मुस्लिम सभ्यताओं के सम्मिश्रण का स्वप्न देखता रहा। यह एक सुखद स्वप्न था। अतः जब अकबर के उस मानव-जीवन-स्वप्न का अंत हुआ तब सभ्यता की यह स्वप्निल विजय भी नष्ट हो गई और यह सम्मिश्रण केवल एक स्वप्न-वार्ता, नानी की एक कहानी-मात्र बन गया। बुलंद दरवाजा उसी सुखद स्वप्न की एक स्मृति है, एवं इसे विजय तोरण न कहकर 'स्वप्न-स्मारक' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

उस दरवाजे से होकर, उस स्वप्न को याद करते हुए, हम एक आंगन में आ पहुंचते हैं, सामने ही दिखाई पड़ती है एक सुंदर श्वेत कब्र। वह उस साधु की समाधि है जिसने अपने पुण्य को देकर मुगल घराने को आरंभ में ही नष्ट होने से बचाया था[1]। अपनी सुंदरता के लिए, अपनी कला की दृष्टि से यह एक अनुपम-अद्वितीय कृति है। समस्त उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी हिंदू-मुसलमान आदि प्रतिवर्ष इस कब्र पर खिंचे चले आते हैं; वे सोच सकते हैं कि जिस व्यक्ति ने जीते-जी अकबर को भिक्षा दी, क्या उसी व्यक्ति की आत्मा स्वर्ग में बैठी उनकी छोटी-सी इच्छा भी पूर्ण न कर सकेगी?

और, सामने ही है वह मस्जिद, जो यद्यपि पूर्णतया मुस्लिम ढंग की है और जो अपनी सुंदरता के लिए भी बहुत प्रख्यात नहीं है, तथापि वह एक

---

१. प्रसिद्ध है कि शेख सलीम चिश्ती नामक एक सूफी फकीर के आशीष से अकबर को पुत्र की प्राप्ति हुई थी। फकीर के नाम पर अकबर ने उस पुत्र का नाम सलीम रखा जो बाद में जहांगीर नाम से बादशाह बना।

ऐसी विशेषता के लिए विख्यात है जो किसी दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं हुई। इसी मस्जिद ने एक भारतीय मुसलमान सम्राट को उपदेशक के स्थान पर खड़ा होकर प्रार्थना करते देखा था। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में यह एक अनोखी-अद्वितीय घटना थी, और वह घटना इसी मस्जिद में घटी थी।

अकबर को सूझी थी कि इस्लाम धर्म की असहिष्णुता को मिटा दे, उसकी कठोरता को भारतीय सहिष्णुता की सहायता से कम कर दे। क्यों न वह भी प्रारंभिक खलीफाओं के समान स्वयं धर्माधिकारी के उच्चासन पर खड़ा होकर सच्चे मानव-धर्म का प्रचार करे। उसके साथी अबुल फजल और फैजी ने उसके आदर्श को सराहा। और उस दिन जब पूरी-पूरी तैयारियां हो गईं तब अकबर पूर्ण उत्साह के साथ उस उच्च सिंहासन पर चढ़कर प्रार्थना करने लगा :

"उस जगत्-पिता ने मुझे साम्राज्य दिया। उसने मुझे बुद्धिमान, वीर और शक्तिशाली बनाया। उसने मुझे दया और धर्म का मार्ग सुझाया, और उसी की कृपा से मेरे हृदय में सत्य के प्रति प्रेम का सागर हिलोरें मारने लगा। कोई भी मानवीय जिव्हा उस परम पिता के स्वरूप, गुणों आदि का पूरा-पूरा वर्णन नहीं कर सकती। अल्ला हो अकबर! ईश्वर महान् है।"

अकबर ने स्वप्न देखा था, जिसमें वह एक महात्मा तथा नवीन धर्म-प्रचारक की तरह खड़ा उपदेश दे रहा था और उसकी समस्त प्रजा स्तब्ध खड़ी उसके संदेश को एकाग्रचित होकर सुन रही थी। किंतु जीवन की वास्तविकता की टक्कर खाकर उसका यह स्वप्न भंग हो गया; उसे प्रथम बार ज्ञात हुआ कि स्वप्नलोक भौतिक संसार से दूर एक ऐसा स्थान है जहां मनुष्य अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ स्वच्छंदतापूर्वक खेल सकता है, किंतु उन इच्छाओं का भौतिक जगत् में कुछ भी स्थान नहीं है।

और, यह है उस अकबर का दीवान-ए-खास। बाहर से तो एक साधारण दुमंजिला मकान दीख पड़ता है किंतु सचमुच में यह भारतीय कला का एक अद्‌भुत नमूना है। एक ही स्तंभ पर सारी ऊपरी मंजिल खड़ी है। उसे निर्माण करने में भारतीय कारीगरों ने बहुत बुद्धि लगाई होगी। अकबर के समय इस मकान में क्या होता था? इस विषय पर इतिहासकारों में

मतभेद है कि यहां धार्मिक वाद-विवाद होते थे या नहीं। कुछ का कथन है कि इसी महान् स्तंभ पर बैठकर अकबर विभिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था, और वे धर्मानुयायियों नीचे चारों ओर बैठे बारी-बारी से अपने धर्म की व्याख्या करते थे।

अकबर का मस्तिष्क विश्व-बंधुत्व तथा मानव-भ्रातृत्व के विचारों का पूर्ण आगार था। भिन्न-भिन्न धर्मों का भीषण संघर्ष देखकर उसके इन विचारों को भयंकर ठेस लगती थी, कठोर आघात पहुंचता था। कुछ ऐसे मूल तत्वों का संग्रह कर वह एक ऐसे मत को प्रारंभ करना चाहता था, जहां किसी भी प्रकार का वैषम्य न हो, जिसमें कोई धार्मिक संकीर्णता न पाई जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था। उस महान् स्तंभ की ही तरह 'ईश्वर एक है' इस एक सत्य पर अकबर ने दीन-ए-इलाही का महान् भवन निर्माण किया। ज्यों-ज्यों यह स्तंभ ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका आकार बढ़ता जाता है, और अंत में ऊपर पहुंचकर एक ऐसा स्थान आता है, जहां धर्मानुयायी समान अवस्था में भाई-भाई की तरह मिल सकें। उस महान् धर्म दीन-ए-इलाही में जा पहुंचने के लिए अकबर ने चार राहें बनाईं जो हिंदू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाइयों को सीधे विश्व-बंधुत्व की उस विशद् परिधि में ले जा सकें।

यह दीवान-ए-खास एक तरह से अकबर के दीन-ए-इलाही का मूर्तिमान स्वरूप है। बाह्य दृष्टि से यह एक साधारण वस्तु दीख पड़ती है; किंतु ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह अपने ढंग का निराला ही है। इसी भवन में दीन-ए-इलाही का प्रारंभ हुआ था और दीन-ए-इलाही के समान ही यह भवन एक परित्यक्त, उपेक्षित तथापि एक संपूर्ण आदर्श है।

दीवान-ए-खास के पास ही वह चौकोर चबूतरा है, जहां बादशाह अपनी सम्राज्ञियों तथा अपने प्रेमी मित्रों के साथ जीवित गोटों का चौसर खेला करते थे। प्रत्येक गोट के स्थान पर एक सुंदर दासी खड़ी रहती थी। पूर्णिमा की रात को जब समस्त संसार पर शीतल चांदनी छिटकी होती, उस समय उस स्थान पर चौसर का वह खेल कितना मादक रहा होगा।

इस स्वप्नलोक में एक स्थान वह भी है, जहां अकबर अपनी सारी

श्रेष्ठता, अपने सारे सयानेपन को भूलकर कुछ समय के लिए आंख-मिचौनी खेलने लगता था। अकबर के वक्षस्थल में भी एक छोटा-सा हृदय धड़कता था। अपने महान् उच्च पद की महत्ता का भार निरंतर वहन करते-करते कई बार वह शैथिल्य का अनुभव करता था। आठों पहर सम्राट् रहकर मानव-जीवन से दूर गौरव और उच्च पद के ऊपर रेगिस्तान में पड़ा-पड़ा अकबर तड़पता था। उसका हृदय उन कृत्रिम बंधनों में जकड़ा हुआ फड़फड़ाता था। इसी कारण जब उस भावुक हृदय में विद्रोहाग्नि धधक उठती थी, तब कुछ समय के लिए अपने पद की महत्ता तथा गौरव को एक ओर रखकर वह सम्राट् भी बालकों के उस सुखपूर्ण भोले-भाले संसार में घुस पड़ता था, जहां मनुष्य मात्र, चाहे वह राजा हो या रंक, एक समान है और सब साथ ही खेलते हैं। बालकों के साथ उनके उस अनोखे लोक में विचर कर अकबर वह जीवन-रस पीता था जिसके बिना साम्राज्य के उस गुरुतम भार से दबकर वह कभी का इस संसार से विदा हो गया होता।

सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर-ही-भीतर खोखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपतपाए आंसुओं से सींचे जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं, अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आंधियां चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती हुई चपला चमकी, पराजय-रूपी वज्रपात होने लगे तब तो यह साम्राज्य-रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, और उसके अवशेष, विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन, असहायों के निःश्वासों तथा शहीदों की भीषण फुंकारों से जलकर भस्म हो गए। जहां एक सुंदर वृक्ष खड़ा था, जो संसार में एक अनुपम वस्तु थी, वहां कुछ ही शताब्दियों में रह गए गंभीर गह्वर, उस वृक्ष के कुछ अधजले-झुलसे हुए यत्र-तत्र बिखरे टुकड़े तथा उस विशाल वृक्ष की मुट्ठी-भर भस्म। सीकरी के खंडहर उसी भस्म को रमाए खड़े हैं।

सब-कुछ सपना ही तो था…देखते ही देखते विलीन हो गया। दो आंखों की यह सारी करामात थी। एकाएक झोंका आया, अकबर मानो सोते से जग पड़ा, स्वप्नलोक छोड़कर भौतिक संसार में लौट आया। स्वप्न भंग हो गया और साथ ही स्वप्नलोक भी उजड़ गया, …और तब

रह गई उनकी एकमात्र शेष स्मृति। किंतु दो आंखें—अकबर की ही आंखें—ऐसी थीं जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था, जिनके सामने ही इस स्वप्न का सारा नाटक—कुछ काल के लिए ही न क्यों हो—एक सुंदर मनोहारी नाटक खेला गया था,...जिसमें अकबर स्वयं एक पात्र था, उस स्वप्नलोक के रंगमंच पर पूरी शान और अदा के साथ अपना पार्ट खेलता था। उन दो आंखों के फिरते ही, उनके बंद होने के बाद उस स्वप्न की रही-सही स्मृतियां भी लुप्त हो गईं जो एक समय सच्ची घटना थी, जो बाद में स्वप्नमात्र रह गया था, आज उसका कुछ भी शेष न रहा। अगर कुछ बाकी बचा है तो केवल वह सुनसान भग्न रंगमंच, जहां वह दिव्य स्वप्न आया था, जहां जीवन का यह अद्भुत रूपक खेला गया था, जहां कुछ काल के लिए वह महान् भारत-विजयी सम्राट् अपनी महत्ता को भूलकर, अपने गौरव को ताक पर रखकर, एक साधारण मानव बन जाता था, रंगरेलियां करता था, बालक की तरह उछलता था, जीवन के साथ आंखमिचौनी खेलता था और अमरत्व के सपने देखता था। सीकरी ही वह स्थान है जिसे देखकर मालूम होता है कि मनुष्य कितना ही महान् और बड़ा क्यों न हो जाए, उसकी भी छाती में एक कोमल भावुक हृदय धड़कता है, उस दिल में भी अनेक बार आकांक्षाओं के भीषण संग्राम होते हैं, ऐसे पुरुष को भी मानवी दुःख-दर्द, सांसारिक कामनाएं तथा भौतिक वासनाएं सताती हैं।

शताब्दियां बीत गईं और आज भी सीकरी के वे सुंदर रंगीले खंडहर खड़े हैं। उस नवजात शिशु नगरी ने केवल पंद्रह वर्ष ही श्रृंगार किया, और फिर उसके प्रेमी ने उसे त्याग दिया, उसने उसे ऐसा भुला दिया कि कभी भूल से भी लौटकर मुंह नहीं दिखाया। अकबर के समय में ही उसने वैभव को त्यागकर विधवा-वेश पहन लिया था और अकबर की मृत्यु होते ही तो सब-कुछ लुट गया, हृदय विदीर्ण हो गया। भारत-विजेता, मुगल साम्राज्य के निर्माता, महान् अकबर की प्यारी नगरी का निर्जीव शरीर शताब्दियों से पड़ा धूलि-धूसरित हो रहा है।

यथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा

राहुल सांकृत्यायन

शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलाई गई है जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज के लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्मा को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यासशिष्य जेमिनी ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की भी वस्तु नहीं है, आखिर छह शास्त्रों के रचयिता छह आस्तिक ऋषियों में आधों ने ब्रह्मा को धता बता दी है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। कहा जाता है, ब्रह्मा ने सृष्टि को पैदा, धारण, और नाश करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है। पैदा करना और नाश करना दूर की बातें हैं, उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हां, दुनिया के धारण की बात तो निश्चय ही ब्रह्मा के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया—दुःख में हो चाहे सुख में—सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागबानी तथा घर-द्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भांति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था तो गर्मियों में वहां से दो सौ कोस दूर।

आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुराकर उन्हें गला फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनिया जानने लगी कि

वस्तुत: तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब-कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊंचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि सारे विज्ञानों को ही उससे सहायता मिली। कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में शिक्षा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान् आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता ?

मैं मानता हूं, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदार के गहन वनों और श्वेत हिम मुकुटित शिखरों के सौंदर्य, उनके रूप, उनकी गंध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस वंद से भेंट नहीं हो सकती, जोकि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक-से-अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है कि दूसरे अंधों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए तो उन्हें घुमक्कड़ बना ही सकती है। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है ? इसी-लिए कि उसी ने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड़े रहते तो वह दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियां बहाई हैं, इसमें संदेह नहीं, और घुमक्कड़ों से हम हर्गिज नहीं चाहेंगे कि वह खून के रास्ते को पकड़ें, किंतु अगर घुमक्कड़ों के काफिले न आते-जाते, तो सुस्त मानव-जातियां सो जातीं और पशु से ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इति-हास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते, किंतु मंगोल घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक चश्मा यही चीजें थीं जिन्होंने पश्चिम में विज्ञान-युग का आरंभ कराया, और इन चीजों को वहां ले जाने वाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलंबस और वास्को-द-गामा, दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी

देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन-सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूकों को घुमक्कड़ी धर्म की महिमा भूल गई, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आई, कि जाकर वहां अपना झंडा गाड़ देते। आज अपनी ६० करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है, और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं हैं। आज एशियायियों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बंद है, लेकिन दो सदी पहले वह हमारे साथ की चीज थी। क्यों भारत और चीन आस्ट्रेलिया की अपार संपत्ति और अमित भूमि से वंचित रह गए? इसलिए कि वे घुमक्कड़ी धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हां, मैं इसे भूलना ही कहूंगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किए। वे भारतीय घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने दक्षिण-पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कंबोज, चम्पा, बोर्नियों और सेलीबीज ही नहीं, फिलीपाईन तक का धावा मारा था, और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया भी वृहत्तर भारत के अंग बनने वाले हैं, लेकिन कूपमंडूकता तेरा सत्यानाश हो! इस देश के बुद्धुओं ने उपदेश करना शुरू किया, कि समुंदर के खारे पानी और हिंदू धर्म में बड़ा बैर है, उसे छूने मात्र से वह नमक की पुतली की तरह गल जाएगा। इतना बतला देने पर क्या कहने की आवश्यकता कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़ी धर्म कितनी आवश्यक चीज है? जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ, और जिसने उसे दुराया, उसके लिए नरक में भी ठिकाना नहीं। आखिर घुमक्कड़ी धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आए, हमें चार लात लगाते गए।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियां दी हैं, वे सभी लौकिक तथा शास्त्र-अग्राह्य हैं। अच्छा तो धर्म से प्रमाण लीजिए! दुनियां के अधिकांश धर्मनाशक घुमक्कड़ रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार, बुद्धि और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़राज थे। यद्यपि

वह भारत से बाहर नहीं गए, लेकिन वर्षा के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वे पाप समझते थे। वे अपने-आप ही घुमक्कड़ नहीं थे, बल्कि आरंभ में ही अपने शिष्यों से उन्होंने कहा था—"चरथ भिक्खवे! चारिक" जिसका अर्थ है—भिक्षुओ! घूमक्कड़ी करो। बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे बताने की आवश्यकता है? क्या उन्होंने पश्चिम में मकदूनिया तथा मिस्र से पूरब जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में बाली और बांका के द्वीपों तक को रौंदकर रख नहीं दिया? जिस वृहत्तर भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उसका निर्माण इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण-धूलि ने नहीं किया? केवल बुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा दी, बल्कि घुमक्कड़ों का जोर बुद्ध से एक-दो शताब्दी पूर्व भी था, जिसके कारण ही बुद्ध जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके। उस वक्त पुरुष ही नहीं, स्त्रियां तक जम्बू वृक्ष की शाखा से अपनी प्रखर प्रतिभा का जौहर दिखातीं, बाद में कूपमंडूकों को पराजित करतीं सारे भारत में मुक्त होकर विचरा करती थीं।

कई-कई महिलाएं पूछती हैं—क्या स्त्रियां भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं, क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए? इसके बारे में तो अलग अध्याय ही लिखा जाने वाला है, किंतु यहां इतना कह देना है कि घुमक्कड़ी धर्म ब्राह्मण धर्म जैसा संकुचित धर्म नहीं है, जिसमें स्त्रियों के लिए स्थान न हो। स्त्रियां इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं जितना पुरुष। यदि वे जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती हैं, तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी धर्म छुड़ाने के लिए ही पुरुष ने बहुत-से बंधन नारी के रास्ते में लगाये हैं। बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि स्त्रियों के लिए भी उनका यही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रमण महावीर कौन थे? वह भी घुमक्कड़राज थे। घुमक्कड़ी धर्म के आचरण में छोटी-से-बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था—घर-द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर

दिया था। "करतल-भिक्षा, तरुतल वासः" तथा दिग-अंबर को उन्होंने इसीलिए अपनाया था कि निर्द्वंद्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेतांबर बंधु दिगंबर कहने के लिए नाराज न हों। वस्तुतः हमारे वैशालिक महान् घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगंबरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेतांबरों के उल्लेख के अनुसार। लेकिन इसमें तो दोनों संप्रदायों और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत हैं कि भगवान् महावीर दूसरी-तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते हुए पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दंभी कहूंगा। आजकल कुटिया का आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बंधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या चेलों से कहलवाते हैं, लेकिन मैं तो कहूंगा, घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूं कि वे ऐसे मुलम्मेवाले महात्माओं और महापुरुषों के फेरे से बचे रहें। वे स्वयं तेली के बैल तो हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे सृष्टिकर्ता ईश्वर से इनकारी महापुरुषों की घुमक्कड़ी की बात से यह नहीं मान लेना होगा कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियां पा गए या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता तो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप शंकराचार्य क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे? शंकर को शंकर किसी ब्रह्म ने नहीं बनाया, उन्हें बड़ा बनाने वाला था यही घुमक्कड़ी धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे— आज केरल देश में थे तो कुछ ही महीने बाद मिथिला में और अगले साल कश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिव-लोक सिधार गए, किंतु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ तीन भाष्य नहीं लिखे, बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को वह घुमक्कड़ी का पाठ पढ़ा गए कि आज भी उसके पालन करने वाले सैकड़ों मिलते हैं। वास्को-द-गामा के भारत पहुंचने से बहुत पहले शंकर के शिष्य मास्को और योरप तक पहुंचे थे। उनके [illegible] शिष्य सिर्फ भारत के [illegible] से ही संतुष्ट नहीं

थे, वल्कि उनमें से कितनों ने जाकर वाकू (रूस) में धूनी रमाई। एक ने पर्यटन करते हुए वोल्गा तट पर निजीनो-वोग्राद के महामेले को देखा। फिर क्या था, कुछ समय के लिए वहीं डट गया और उसने ईसाइयों के भीतर कितने ही अनुयायी पैदा कर लिए, जिनकी संख्या भीतर-ही-भीतर वढ़ते-वढ़ते इस शताब्दी के आरंभ में कुछ लाख तक पहुंच गई थी।

रामानुज, मध्वाचार्य और दूसरे वैष्णवाचार्य के अनुयायी मुझे क्षमा करें, यदि मैं कहूं कि उन्होंने भारत में कूप-मंडूकता के प्रचार में वड़ी सर-गर्मी दिखाई। भला हो रामानंद और चैतन्य का जिन्होंने कि पंक के पंकज वनकर आदिकाल से चले आते महान् घुमक्कड़ी धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की, जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं किंतु द्वितीय श्रेणी के वहुत-से घुमक्कड़ उनमें पैदा हुए। ये वेचारे वाकू की वड़ी ज्वालामाई तक कैसे जाते, उनके लिए तो मानसरोवर तक पहुंचना भी मुश्किल था। अपने हाथ से खाना वनाना, मांस-अंडे से छू जाने पर भी धर्म का चला जाना, हाड़-तोड़ सर्दी के कारण हर लघु शंका के वाद वर्फीले पानी से हाथ धोना और हर महाशंका के वाद स्नान करना तो यमराज को निमंत्रण देना होता, इसीलिए वेचारे फूंक-फूंककर ही घुमक्कड़ी कर सकते थे। इसमें किसे उज्र हो सकता है कि शैव हो या वैष्णव, वेदांती हो या सदांती, सभी को आगे वढ़ाया केवल घुमक्कड़ी धर्म ने।

महान् घुमक्कड़ी धर्म! वौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था कि तव से कूप-मंडूकता का हमारे देश में वोलवाला हो गया। सात शताब्दियां वीत गईं, और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतंत्रता हमारे देश में पैर तोड़कर वैठ गई, यह कोई आकस्मिक वात नहीं थी। लेकिन समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही कूप-मंडूक वनाना चाहा हो, इस देश में ऐसे माई के लाल जव-तव ही पैदा होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन वे अपने समय के महान् घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा और ईरान और अरव तक का धावा मारा। घुमक्कड़ी किसी वड़े योग से कम सिद्धिदायिनी नहीं है, और निर्भीक तो वह एक नंवर का वना देती है। घुमक्कड़ नानक मक्के में जाकर कावा की

ओर पैर फैलाकर सो गए। मुल्लों में इतनी सहिष्णुता होती तो आदमी होते। उन्होंने एतराज किया और पैर पकड़कर दूसरी ओर करना चाहा। उनको यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जिस तरफ घुमक्कड़ नानक के पैर घूम रहे हैं, कावा भी उसी ओर चला जा रहा है। यह है चमत्कार! आज के सर्वशक्तिमान किंतु कोठरी में वंद महात्माओं में है कोई ऐसा जो नानक की तरह हिम्मत और चमत्कार दिखलाए ?

दूर शताब्दियों की वात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नहीं वीती, इस देश से स्वामी दयानंद को विदा हुए। स्वामी दयानंद को ऋषि दयानंद किसने वनाया ? घुमक्कड़ी धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिकांश भागों का भ्रमण किया, पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। शास्त्रों को पढ़कर काशी के बड़े-बड़े पंडित महामंडूक बनने में ही सफल होते रहे, इसलिए दयानंद को मुक्त-बुद्धि और तर्क-प्रधान बनाने का कारण शास्त्रों से अलग कहीं और ढूंढ़ना होगा, और वह है उनका निरंतर घुमक्कड़ी धर्म का सेवन। उन्होंने, समुद्र-यात्रा करने, द्वीप-द्वीपांतरों में जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीलें दी जाती थीं, सबको चिंदी-चिंदी करके उड़ा दिया और बतलाया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि कोई अनादि सनातन धर्म है, तो वह घुमक्कड़ी धर्म है। लेकिन वह संकुचित संप्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान् है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मों ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है वह केवल घुमक्कड़ी धर्म ही के कारण। प्रभु ईसा घुमक्कड़ थे, उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे, जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुंचाया। यहूदी पैगंबरों ने घुमक्कड़ी धर्म को भुला दिया, जिसका फल उन्हें शताब्दियों तक भोगना पड़ा। उन्होंने अपनी जान चूल्हे से सिर निकालना नहीं चाहा घुमक्कड़ी धर्म की ऐसी भारी अवहेलना करनेवाले की जैसी गति होनी चाहिए थी वैसी गति उनकी हुई। चूल्हा हाथ से छूट गया और सारी

दुनिया में घुमक्कड़ी करने को मजबूर हुए, जिसने आगे उन्हें मारवाड़ी सेठ बनाया, या यों कहिए कि घुमक्कड़ी धर्म की एक छींटपड़ जाने से मारवाड़ी सेठ भारत के यहूदी बन गए। जिसने इस धर्म की अवहेलना की उसे रक्त के आंसू बहाने पड़े। अभी-अभी इन बेचारों ने बड़ी कुर्बानी के बाद और दो हजार वर्ष की घुमक्कड़ी के तजर्बे के बल पर फिर अपना स्थान प्राप्त किया है। आशा है, स्थान प्राप्त करने से वे चूल्हें में सिर रखकर बैठनेवाले नहीं बनेंगे। अस्तु, सनातन धर्म से पतित यहूदी जाति को महान् पापका प्रायश्चित या दंड घुमक्कड़ी के रूप में भोगना पड़ा और अब उन्हें पैर रखने का स्थान मिला। आज भारत तना हुआ है। वह यहूदियों की भूमि और राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। जब बड़े-बड़े स्वीकार कर चुके हैं, तो कितने दिनों तक वह हठधर्मी चलेगी? लेकिन विषयांतर में न जाकर हमें यह कहना था कि यह घुमक्कड़ी धर्म है जिसने यहूदियों को केवल व्यापार-कुशल, उद्योग-निष्णात ही नहीं बनाया, बल्कि विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत सभी क्षेत्रों में चमकने का मौका दिया। समझा जाता था कि व्यापारी तथा घुमक्कड़ यहूदी युद्धविद्या में कच्चे निकलेंगे, लेकिन उन्होंने पांच-पांच अरबी साम्राज्यों की सारी शेखी को धूल में मिलाकर चारों खाने चित कर दिया और सबने नाक रगड़कर उनसे शांति की भिक्षा मांगी।

इतना कहने के बाद अब कोई संदेह नहीं रह गया कि घुमक्कड़ी धर्म से बढ़कर दुनिया में कोई धर्म नहीं है। धर्म भी छोटी बात है, उसे घुमक्कड़ी के साथ लगाना "महिमा घटी समुद्र की, रावण बसा पड़ोस" वाली बात होगी। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पंथ अपने अनुयायी को मारने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नहीं देता, इसके लिए तो कह सकते हैं—"क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ ले उस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है, जो निश्चित है। किन साधनों से संपन्न होकर आदमी घुमक्कड़ होने का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बतलाया जाएगा। किंतु घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है, और चिंताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी भी आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़कर सुख कहां मिल

सकता है ? आखिर चिंताहीनता ही तो सुख का सबसे स्पष्ट रूप है। घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं, लेकिन उसे उसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसमें हाथ भी लगाएगा ! वस्तुतः घुमक्कड़ी में कभी-कभी होने वाले अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते हैं—उसी तरह जैसे काली पृष्ठभूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ों पर निर्भर करता है। इसलिए मैं कहूंगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़-व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिए जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं तो समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हित-बांधव बाधा उपस्थित करते हैं, तो समझना चाहिए कि वे दिवांध हैं। यदि धर्म-धर्माचार्य कुछ उलटा-सीधा तर्क देते हैं तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नहीं दिया। यदि राज्य और राजनेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं तो हजारों बार की तजर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति रोकने वाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य-सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आंख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं एक से अधिक बार किया है।(पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेज़ों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आंख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई तरुणी-तरुण घुमक्कड़ धर्म की दीक्षा लेता है—यह मैं अवश्य कहूंगा कि यह दीक्षा वही ले सकता है जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आंसू बहाने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से ब्याह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की, और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस, शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः" और मेरे गुरु कपोतराज

के वचन को अपना पथ-प्रदर्शक वनाना चाहिए—

सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहां ?
जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां ?

—इस्माईल (मेरठी)

दुनिया में मानुख-जन्म एक ही वार होता है और जवानी भी केवल एक ही वार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर वांध लो भावी घुमक्कड़ो ! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए वेकरार है।

बहता पानी निर्मला

अज्ञेय

मुझे बचपन से नक्शे देखने का शौक है। आप समझेंगे कि कुछ भूगोल की तरफ प्रवृत्ति होगी—नहीं, सो बात नहीं, असल बात यह है कि नक्शों के सहारे दूर दुनिया की सैर का मजा लिया जा सकता है। यों तो वास्तविक जीवन में भी काफी घूमा-भटका हूं, पर उसमें कभी तृप्ति नहीं हुई, हमेशा मन में यही रहा कि कहीं और चलें, कोई और नयी जगह देखें, और इस लालसा ने अभी भी पीछा नहीं छोड़ा है। नक्शों से यह फायदा होता है कि मन के घोड़े पर सवार होकर कहीं चले जाइए, कोई रोक नहीं, अड़चन नहीं, और जब चाहे लौट आइए, या न भी लौटिए—कोई पूछने वाला नहीं कि हजरत कहां रम रहे।

यों तो नक्शों में तरह-तरह के रंगों से कुछ मदद मिलती है यह तै करने में कि कहां जाएं—जिसे हरी-भरी जगह देखनी हो वह नक्शों की हरी-भरी जगहों में घूमे, जिसे पहाड़ी प्रदेश देखने हों—वह भूरे या पीले प्रदेशों में चला जाए, और जिसे एकदम अछूते, अपरिचित प्रदेश में जाने का जोखिम पसंद हो वह बिल्कुल सफेद हिस्सों की ओर चल निकले—अनादिकालीन बर्फीले मरु प्रदेशों में, जंगलों में, समुद्र में, समुद्र-द्वीपों में। नक्शों में कहीं लिखा रहता है कि इस प्रदेश का सर्वेक्षण नहीं हुआ है। हिमालय के अनेक भाग ऐसे हैं, या कि 'अगम्य जंगल'—असमिया सीमा-प्रदेश में ऐसे स्थल हैं, जरा कल्पना कीजिए ऐसी जगहों में जा निकलने का आनंद !

लेकिन इससे अधिक सहायता मिलती है जगहों के नामों से। बचपन में एक नाम पढ़ा था 'अमरकंटक'। यह नाम ही इतना पसंद आया कि मैंने चुपके से एक कंबल और दो-चार कपड़ों का बंडल बना लिया कि अभी चल दूंगा वहां के लिए। वहां जाना नहीं हुआ, अभी तक भी अमर-

कंटक नहीं देखा है और इस प्रकार उसका कांटा अभी तक सालता ही है, पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है, और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूं जो वहां जाकर जान पाता। ऐसा ही एक और नाम था तरंगवाड़ी—यों नक्शे में उसका रूप विकृत होकर त्रांकुवार हो गया है। 'तरंगों वाली वस्ती'—सागर के किनारे के गांव का यह नाम सुनकर क्या आपके मन में तरंग नहीं उठती कि जाकर देखें ? कई नाम ऐसे भी होते हैं जिनका अर्थ समझ में नहीं आता, पर ध्वनि ही मोह लेती है। जैसे 'तिरुकुरंगुड़ि' नाम सुनकर लगता है, मानो हिरनों का समूह चौकड़ी भरता जा रहा हो। कुछ नाम ऐसे भी होते हैं कि अर्थ जानने पर ही उनका जादू चलता है, जैसे 'लू-हित'। ऊपरी ब्रह्मपुत्र के इस नाम को संस्कृत करके 'लोहित्य' बना लिया गया है जिससे अनुमान होता है कि वह लाल ताम्र वर्ण की होगी, पर वास्तव में लू-हित का अर्थ है 'तारों की राजकन्या' या ऐसा ही कुछ। ब्रह्मपुत्र का सौंदर्य जिन्होंने नहीं देखा उनकी तो बात ही क्या, जिन्होंने देखा भी है वे भी क्या इस नाम को जानकर 'तारों की राजकन्या' का तरुण लावण्यमय रूप देखने को ललक न उठेंगे ?"

'होनहार विरवान के होत चीकने पात' में कुछ होनहार विरवा तो नहीं था, पर नक्शों के बगदादी कालीन पर बैठकर हवाई यात्रा करने की इस आदत से यह तो पता लग सकता था कि आगे चलकर भी कहीं टिककर नहीं बैठूंगा। बात भी ऐसी है, लगातार कुछ दिन भी एक जगह रहता हूं तो अपनी इच्छा से नहीं, लाचारी से और उस लाचारी में बहुत-से नक्शे जुटाकर फिर अपने लिए कोई हीला निकाल ही लेता हूं। और आप सच मानिए, जीने की कला सबसे पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कला है—कम-से-कम आधुनिक काल में, जब मानवजाति का इतना बड़ा अंश या तो प्रवासी है, या शरणार्थी ही : एक स्थान से दूसरे स्थान, एक पेशे से दूसरे पेशे में, एक घर से दूसरे घर, इत्यादि !

यात्रा करने के कई तरीके हैं। एक तो यह कि आप सोच-विचारकर निश्चय कर लें कि कहां जाना है, कब जाना है, कहां-कहां घूमना है, कितना खर्च होगा; फिर उसी के अनुसार छुट्टी लीजिए, टिकट कटाइए, सीट या बर्थ बुक कराइए, होटल डाक-बंगले को सूचना देकर सुरक्षित

कराइए या भावी अतिथियों को खबर कीजिए—और तब चल पड़िए। बल्कि तरीका तो यही एक है, क्योंकि वह व्यवस्थित तरीका है। और इसमें मजा बिल्कुल नहीं है यह भी कहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत-से लोग ऐसे यात्रा करते हैं और बड़े उत्साह से भरे वापस आते हैं।

दूसरा तरीका यह है कि आप इरादा तो कीजिए कहीं जाने का, छुट्टी भी लीजिए, इरादा और पूरी योजना भी चाहे घोषित कर दीजिए पर ऐन मौके पर चल दीजिए कहीं और को। जैसे घोषित कर दीजिए कि आप बड़े दिनों की छुट्टियों में बंबई जा रहे हैं, लोगों को ईर्ष्या से कहने दीजिए कि अमुक बंबई का सीजन देखने जा रहा है, मगर चुपके से पैक कर लीजिए जबर्दस्त गर्म कपड़े और जा निकलिए बर्फ से ढके श्रीनगर में।

लेकिन अपनी भी कुछ बातें कहूं। मैं दूसरे तरीके का कायल हूं यह तो आप समझ ही गये होंगे। लेकिन जब निकलता ही हूं तब एक तीसरा तरीका भी अख्तियार करता हूं। जैसे कहा तो सबसे यह कि बंबई जा रहे हैं, मगर जब स्टेशन गए तो यह तै करके कि नैनीताल जा रहे हैं और वहां से हिमालय के भीतरी प्रदेशों में और इस तरह जा निकले—शिलंग!

शिवसागर से आगे सोनारी के पास में डि-खू, नदी की बाढ़ में कैसे फंस गया था, इसका यही रहस्य है।

अंग्रेजी में कहावत है कि 'एक कील की वजह से राज्य खो जाता है'···वह यों कि कील की वजह से नाल, नाल की वजह से घोड़ा, घोड़े के कारण लड़ाई, और लड़ाई के कारण राज्य से हाथ धोना पड़ता है। हमारे पास छिनने को राज्य तो था नहीं, पर दांत मांजने के एक ब्रुश और मोटर की एक मामूली-सी ढिबरी के लिए हम कैसी मुसीबत में पड़े यह हम ही जानते हैं।

सोनारी एक छोटा-सा गांव है—अहोम राजाओं की पुरानी राजधानी, शिवसागर से कोई अठारह मील दूर। वहां भी नाम के आकर्षण से चला गया था। यों असम में 'सोना' या 'स्वर्ण' बहुत से नामों में है—सुवनश्री, सोना-भारती वगैरह—और असम भी 'सोनार असम'—सोने का असम कहलाता है। बरसात के दिन थे, रास्ता खराब, एक दिन सवेरे घूमने निकला तो देखा कि नदी बढ़कर सड़क के किनारे आ गई है। मैं

शिवसागर से तीन-चार मील पर था, सोचा कि एक नया दांत-ब्रुश ले लूं, क्योंकि पुराना घिस चला था, और मोटर की भी एक ढिबरी ठीक करवा-कर ही लौटूं···उसकी चूड़ी घिस जाने से थोड़ा-थोड़ा तेल चूता रहता था, वैसे कोई ज़रूरी काम नहीं था। खैर, इसमें कोई दो घंटे लग गए, तो खाना खाने में एक घंटा और: तीन घंटे बाद वापस लौटने लगे तो देखा, सड़क पर पानी फैल गया है। पानी गहरा नहीं होगा, यही सोचकर मैं मोटर बढ़ाता चला गया। आगे देखा, सब ओर पानी ही पानी है, सड़क का कहीं पता नहीं लगता, सिर्फ पेड़ों की कतार से अंदाज लग सकता था। पर पानी बड़े जोर से एक तरफ से दूसरी तरफ बह रहा था, क्योंकि सड़क के एक तरफ नदी थी. दूसरी तरफ नीची सतह के धान के खेत, जिनकी ओर बढ़ रहा था। पानी के धक्के से सड़क कई जगह टूट गई थी। मैं फिर भी बढ़ता गया, क्योंकि आखिर पीछे भी पानी ही था। पर थोड़ी देर बाद पानी कुछ गहरा हो गया और उसके धक्के से मोटर भी सड़क पर से हटकर किनारे की ओर जाने लगी: आगे कहीं कुछ दीखता नहीं था, क्योंकि सड़क की सतह शायद दो-तीन मील आगे तक बहुत नीची ही थी। सड़क के दोनों ओर जो पेड़ थे उनमें कइयों पर सांप लटक रहे थे, क्योंकि बाढ़ से बचने के लिए वे पहले सड़क पर आते थे और फिर पेड़ों पर चढ़ जाते थे।

मैंने लौटने का ही निश्चय किया। पर सड़क दीखती तो थी नहीं, अंदाज से ही मैं बीच के पक्के हिस्से पर गाड़ी चला रहा था। मोड़ने के लिए उसे पटरी से उतारना पड़ेगा···और इधर-उधर सड़क है भी कि नहीं, इसका क्या भरोसा? मैं और एक जगह देख भी चुका था कि आंखों के सामने ही कैसे, समूचा ट्रक दलदल में धंसकर गायब हो जाता है। इस-लिए मोटर को बिना घुमाए उल्टे गियर में कोई ढाई मील तक लाया, यहां सड़क कुछ ऊंची थी, उस पर गाड़ी घुमाकर शिवसागर पहुंचा।

शिवसागर से सोनारी को एक दूसरी सड़क भी जाती थी चाय-बागानों में से होकर, यह सड़क अच्छी थी, पर इसके बीच में एक नदी पड़ती थी जिसे नाव से पार करना होता था। मैंने सोचा कि इसी रास्ते चलें, क्योंकि सामान तो सब सोनारी में था, मैं डाक-बंगले से कुछ घंटों के लिए ही तो निकला था। शिवसागर में एक तो मोटर की ढिबरी

कसवानी थी, और दूसरे, दांत-ब्रुश और कुछ तेल-साबुन लेना था, बस। वह भी लौटने की जल्दी के कारण नहीं लिया था।

इस सड़क से नदी तक पहुंच गए—वह बड़ी मुश्किल से, क्योंकि रास्ते में बड़ी फिसलन थी और गाड़ी बार-बार अटक जाती थी। नदी में नाव पर गाड़ी लाद भी ली, और पार भी चले गए। यहां भी नदी में बड़ी बाढ़ आई थी और बहते हुए टूटे छप्पर बता रहे थे कि नदी किसी गांव को लीलती हुई आई है, एक भैंस भी बहती हुई आई और पेड़-पौधों की तो गिनती क्या। उस पार नदी का कगारा ऊंचा था, मोटर के लिए उतारा बना हुआ था, लेकिन नाव से किनारे तक जो तख्ते डाले गए थे, वे ठीक नहीं लग रहे थे। मोटर जब तख्तों पर आई और नाव एक तरफ को झुकी तो तख्ते फिसल गए, नाव दूर हट गई, मोटर नीचे गिरी, आधी पानी में, आधी किनारे पर। मैं जोर से ब्रेक दबाए बैठा था, पर ऐसे अधिक देर तक तो नहीं चल सकता था। लेकिन मैं तो मोटर के साथ खुद बंधा बैठा था, उतर कर समझा नहीं सकता था। खैर, आधा घंटा उस स्वर्ग-नसैनी पर बैठे-बैठे असमिया, हिंदी और बंगला की खिचड़ी में लोगों को बताता रहा कि क्या करें, तब मोटर ऊपर चढ़ाई जा सकी। थोड़ा आगे ही ऊंची जगह गांव था। वहां मोटर रोककर चाय की तलाश की। यहीं सोनारी से आए दो साइकिल-सवारों से मालूम हुआ कि वे कंधे तक पानी में से निकलकर आए हैं—साइकिलें कंधों पर उठाकर! और मोटर तो कदापि नहीं जा सकती।

इस तरह इधर भी निराशा थी। पानी अभी बढ़ रहा था। यह गांव ऊंची जगह था, पर यहां कैद हो जाना मैं नहीं चाहता था इसलिए फिर नाव पर मोटर चढ़ाकर उसी रास्ते नदी पार की। सबने मना किया पर मेरे सिर पर भूत सवार था और हठधर्मी का अपना अनूठा रस होता है!

रात शिवसागर पहुंचे। एक सज्जन ने ठहरने को जगह दी, भोजन-बिस्तर का प्रबंध हो गया, पर दांत का ब्रुश तो उधार नहीं लिया जा सकता। सबेरे-सबेरे चलकर एक सौ अट्ठाईस किलोमीटर दूर डिब्रूगढ़ पहुंचे, वहां ब्रुश लेकर मुंह-हाथ धोकर स्वस्थ हुए, यहां एक कमीज और पैंट खरीदकर कपड़े बदले, रात के लिए एक कंबल खरीदा। मन-ही-मन

अपने को कोसा कि नया दांत-ब्रुश लेने के लिए न सोनारी से निकले होते, न यह मुसीवत होती, क्योंकि इसकी ऐसी तात्कालिक आवश्यकता तो थी नहीं, न मोटर की ढिवरी का मामला ही इतना जरूरी था। लेकिन उपाय क्या था ?

इस तरह बारह दिन और काटने पड़े, क्योंकि सोनारी के सब रास्ते बंद थे। लौटकर देखा, सोनारी डाक-बंगले में पानी भर गया था, कपड़े सब सीलकर सड़ रहे थे, किताबें तो गल ही गई थीं। बचा था तो केवल स्नान-घर में ऊंचे ताक पर रखा हुआ साबुन का डिब्बा और दांतों का ब्रुश।

नक्शे मैं अब भी देखता हूं। वास्तव में जितनी स्थल यात्राएं पैरों से करता हूं, उससे ज्यादा कल्पना के चरणों से करता हूं। लोग कहते हैं कि मैंने अपने जीवन का कुछ नहीं बनाया, मगर मैं बहुत प्रसन्न हूं और किसी से ईर्ष्या नहीं करता। आप भी अगर इतने ही खुश हों तो ठीक—तो शायद आप पहले से मेरा नुस्खा जानते हैं—नहीं तो मेरी आपको सलाह है, "जनाब, अपना बोरिया-बिस्तरा समेटिए और जरा चलते-फिरते नजर आइए।" यह आपका अपमान नहीं है, एक जीवन-दर्शन का निचोड़ है। 'रमता राम' इसलिए कहते हैं कि जो रमता नहीं, वह राम नहीं, टिकना तो मौत है।

●●

कबीर साहब से भेंट

रामधारी सिंह 'दिनकर'

कल्पना में एक दिन मेरी मुलाकात महात्मा कबीरदास से हुई और मैंने उनसे पूछा, "महाराज, आप तो भक्त भी थे और समाज-सुधारक भी, किंतु आज संसार में भक्ति का स्वर मद्धम पड़ गया है और सर्वत्र समाज-सुधार की भावना प्रवल दिखाई देती है। लोग परलोक को छोड़कर लोक की समाराधना में लीन हैं। यह संसार के लिए अच्छा है या बुरा, कुछ ठीक से समझ में नहीं आता। बड़ी कृपा हो, यदि इस विषय में आप अपने विचार हमें जानने दें।

कबीरदास वोले, "भक्ति-साधना और समाज-सुधारक, ये परस्पर विरोधी काम नहीं हैं। मुख्य बात यह नहीं है कि तुम समाज-सेवी हो या भक्त। देखने की बात तो यह हो सकती है कि तुम समाज-सेवा या भक्ति किस भाव से करते हो। यदि तुम्हारी सेवा-भावना निष्काम है तो तुम समाज-सेवी होते हुए भी भक्त हो। इसके विपरीत, भक्त होने पर भी यदि वासना तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ती तो साधारण संसारी जीव हो।

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिले, निहकामी निज देव।"

मैंने कहा, "महाराज, यह उत्तर तो अत्यंत संक्षिप्त हो गया। और सकाम-निष्काम वाली बात लाकर तो आपने और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी है। उदाहरण के लिए, जो लोग आर्थिक विषमता मिटाकर समाज में

समता लाना चाहते हैं, उनका कार्य निष्काम कैसे हो सकता है, स्पष्ट ही, वे किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते हैं।"

महात्मा बोले, "सभी मनुष्य सकाम नहीं होते। सकामता तो वहीं देखी जा सकती है; जहां मनुष्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है। जिसका उद्देश्य स्वार्थ नहीं है, परमार्थ अथवा परोपकार है, उस पर तुम सकाम होने का दोष नहीं दे सकते। और विषमताएं क्या मात्र आर्थिक हैं ? उनसे कहीं विकराल विषमताएं तो वे हैं जो निरे जन्म के आधार पर एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम बताती हैं, एक को पूज्य और दूसरे को अस्पृश्य बताती हैं। जब तक यह दुर्ग नहीं टूटता, जब तक मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि जन्मना सभी मनुष्य समान हैं और सबको श्रेष्ठ एवं सुखी बनने का समान अधिकार है, तब तक समाज में फैली हुई विषमताओं का अंत नहीं होगा।"

मैंने निवेदन किया, "विषमता के मानसिक दुर्ग से आपका तात्पर्य क्या है महाराज ?"

कबीर साहब बोले, "बहुत कुछ वही भाव जिसे तुम आज की भाषा में वर्ग-भावना कहते हो। धनी और निर्धन, ये दो वर्ग तुम्हें दिखाई देते हैं, किंतु कितने आश्चर्य की बात है कि निर्धन होने पर भी ब्राह्मण और हरिजन परस्पर एकात्मकता का अनुभव नहीं कर पाते। ब्राह्मण आज भी यह सोचकर अपने को अंत्यजों से पृथक् रखता है कि वह जन्मना उनसे श्रेष्ठ है। समाज में समता लाने के पहले उस रूढ़ि को समूल विनष्ट करना है, उस परंपरा को निर्मूल बनाना है जो यह भाव जगाती है कि कर्म नहीं, केवल जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से श्रेष्ठ हो सकता है।"

मैंने दबी जबान से पूछा, "महाराज ! क्या मैं यह समझूं कि आप गांधी और मार्क्स के करीब से बोल रहे हैं।"

"राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं है। किंतु जहां तक संस्कार की बात है, मैं गांधी और मार्क्स की बातों को ठीक समझता हूं। सामाजिक विषमताओं के मूल में मनुष्य का अहंकार निवास करता है। जाति का अहंकार, वंश का अहंकार, धन और शक्ति का अहंकार, सिद्धि और सफलता का

अहंकार। ये सभी अहंकार विभाजक रेखाएं हैं, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं। गांधी ने इसी अहंकार को शामिल करने के लिए यह परिपाटी चलाई थी कि सेवा का अधिकार उसी को मिल सकता है जो भंगी का काम भी उत्साह और प्रसन्नता के साथ कर सके। और इसी अहंकार को मारने के लिए मार्क्स ने कहा कि सेवा के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व अपने मन को समझा दो कि तुम किसी भी व्यक्ति से किंचित् भी श्रेष्ठ नहीं हो। जो काम मजदूर करता है वह पंडितों के भी करने योग्य है और इसी अहंकार-विसर्जन के लिए वैष्णव कवि ने 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' की अनुभूति प्राप्त की थी। जिसमें विनयशीलता नहीं, वह मनुष्य का कोई काम नहीं कर सकता। जिसमें सबका दास बनने की विनम्रता नहीं, वह किसी का भी स्वामी नहीं हो सकता—

कबिरा कुल तो सो भला, जेहि कुल उपजै दास
जेहि कुल दास न उपजै, सो कुल आक पलास॥"

कबीर साहब की बात सुनकर क्षण-भर मैं विचार-मग्न हो गया। मुझे लगा कि समाजवाद नया शब्द जरूर है, किंतु उसकी तैयारियां सदियों से होती आई हैं। कबीर ने जाति-प्रथा और वर्णाश्रम पर प्रहार किया। मार्क्स धनतंत्र को ललकारने के जोश में धर्म के भी विरुद्ध हो गए। गांधी की व्यथा यह है कि धनतंत्र तो अवश्य टूटे, किंतु धर्म फिर से अचल हो जाय। किंतु इस काम में कठिनाइयां कितनी हैं। अतएव मैंने आतुर होकर प्रश्न किया, "किंतु महाराज! आप समाज की कल्पना करते हैं, वह तो संन्यासियों के समाज जैसा लगता है। तो क्या संन्यासी भी समाज चला सकते हैं?"

महात्मा बोले, "चलाना ही होगा। और कोई उपाय नहीं है। मैं जिस समाज की कल्पना करता हूं उसके गृहस्थ संन्यासी और संन्यासी गृहस्थ होंगे। अर्थात्, संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच वह दूरी नहीं रहेगी जो परंपरा से चली आ रही है। मैं स्वयं गृहस्थ था, नानक गृहस्थ थे, बहुत प्राचीन काल में वसिष्ठादि अनेक ऋषि गृहस्थ बने हुए हैं। संन्यासी उत्तम कोटि का मनुष्य होता है क्योंकि उसमें संचय की वृत्ति नहीं होती, लोभ और स्वार्थ नहीं होता। यही गुण गृहस्थ में भी होना चाहिए। और संन्यासी

भी वही श्रेष्ठ है जो समाज के लिए कुछ काम करे। ज्ञान और कर्म को भिन्न करोगे तो समाज में विषमता उत्पन्न होगी ही। मुख में कविता और करघे पर हाथ, यह आदर्श मुझे बहुत पसंद था, और इसी की शिक्षा मैं दूसरों को भी देता हूं। और, तुमने सुना है या नहीं कि नानक ने एक अमीर लड़के के हाथ से पानी पीना अस्वीकार कर दिया था। लोगों ने कहा, 'गुरुजी, यह लड़का तो अत्यंत संभ्रांत वंश का है, इसके हाथ का पानी पीने में क्या दोष है ?' नानक बोले, 'इसकी तलहत्थी में मेहनत और मजदूरी के निशान नहीं हैं। जिसके हाथ में मेहनत के ठेले नहीं होते, उसके हाथ का पानी पीने में मैं दोष मानता हूं।' नानक ठीक थे। श्रेष्ठ समाज वही है जिसके सदस्य ज्ञान और कर्म में एक को श्रेष्ठ और दूसरे को अधम नहीं मानते। श्रेष्ठ समाज वह है जिसके सदस्य जी खोलकर श्रम करते हैं और, तब भी जरूरत से अधिक धन पर अधिकार जमाने की उनकी इच्छा नहीं होती—

उदर समाता अन्न लै, तनहिं समाता चीर।
अधिकहिं संग्रह ना करै, ताको नाम फकीर॥
साधू सच्चा वही है, पेट समाता लेई।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब मांगे तब देई॥
साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं, अतिथि न भूखा जाय॥"

मैंने कहा, "बाबा, ये बातें तो बहुत दिनों से कही जा रही हैं, किंतु संचय की ओर से मनुष्य की वृत्ति फिरती तो नहीं दिखाई देती। वह तो तभी फिरती है जब दबाव डाला जाता है।"

कबीर साहब बोले, "तो कौन कहता है कि दबाव मत डालो। दबाव केवल तलवार का ही नहीं, जनमत का भी होता है। तलवार के भय से साधुता धारण करने वाला व्यक्ति समाज का आदर्श सदस्य नहीं हो सकता। आदर्श मनुष्य तो वही हो सकता है जिसने स्वेच्छया साधुत्व का वरण किया हो, स्वेच्छया संचय का त्याग किया हो। किंतु एक बात याद रखो कि प्रवृत्ति की ज्वाला भड़काए रखने से मनुष्य संचय का त्याग नहीं करेगा। इसके लिए थोड़ी शिक्षा उसे निवृत्ति की भी मिलनी चाहिए। प्रवृत्ति इसलिए कि मनुष्य डटकर काम करे। निवृत्ति इसलिए कि अपनी कमाई पर

वह अपना अधिकार न जमाये। प्रवृत्ति इसलिए कि कर्मठता जीवन का एकमात्र अवलंब है और निवृत्ति इसलिए कि एक दिन मनुष्य को सब-कुछ यहीं छोड़कर अकेले जाना पड़ता है और उसकी चिता में रुपए-पैसे नहीं, कुछ थोड़ी-सी सूखी लकड़ी ही जलती हैं—

चार जने मिलि खाट उठाये रोवत लै चले डगर डगरिया।
कहे कवीर सुनो भई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया।

इसलिए, आवश्यकता यह है कि लोग जरूरत से अधिक जमा करने की व्यर्थता को समझें, और त्याग में क्या संचय से कम सुख है? केवल दृष्टि का भेद है।"

यहां आकर मैंने निवेदन किया, "अच्छा बाबा, ये बातें तो हो गई। अब धर्म के विषय में कुछ कहिए।"

कबीर साहब बोले, "इतनी देर क्या मैं धर्म छोड़कर किसी अन्य विषय की बात कहता रहा? ऐसा क्यों समझते हो कि धर्म केवल मंदिर और मस्जिद में बसता है तथा जुलाहे के करघाघर या मोची के मोचीखाने अथवा राजनीति के दफ्तर में वह नहीं रह सकता। जीवन के दो टुकड़े नहीं हैं कि एक में धर्म का आसन और दूसरे में छल और प्रपंच के लिए छूट रहे। जीवन का ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म संपूर्ण जीवन की पद्धति है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की मौजूदगी में करें और बाकी कार्यों के समय उसे भूल जाएं। धर्म ज्ञान और विश्वास में नहीं, कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तो इस विश्वास का सबूत हमारे आचरणों में मिलना ही चाहिए। पूजा और अनुष्ठान की विधियां धर्म-रूप हैं। मंदिर, मस्जिद, तीर्थ-व्रत और पंडे तथा पुरोहित की प्रथा, ये धर्म के ढकोसले हैं। सच पूछो तो सभी धर्म एक हैं। केवल पूजा-विधियों के कारण वे भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। इसलिए कहता हूं कि पूजा-विधियों को छोड़ दो और सभी धर्मों को एक हो जाने दो। सभी धर्म एक हैं। एक से अधिक वे हो ही नहीं सकते। तुम्हारे नये कवि रवीन्द्रनाथ ने तुमसे ठीक कहा था, 'धर्म को पकड़े रहो। धर्मों को छोड़ दो।' और

धर्म केवल जुमे या मंगलवार को ही नहीं जगता, यह सातों दिन जगा रहता है। उसकी साधना का स्थान मंदिर और मस्जिद ही नहीं, बल्कि वे सारी जगहें हैं, जहां मनुष्य कोई काम करता है।"

आंगन का पंछी

विद्यानिवास मिश्र

गांवों में कहा जाता है : जिस घर में गौरैया अपना घोंसला नहीं बनाती वह घर निर्वंश हो जाता है। एक तरह से घर के आंगन में गौरैया का ढीठ होकर चहचहाना, दाने चुगकर मुंडेरी पर बैठना, हर सांझ, हर सुबह, हर कहीं तिनके बिखेरना, और घूम-फिरकर फिर रात में घर ही में बस जाना; अपनी बढ़ती चाहने वाले गृहस्थ के लिए बच्चों की किलकारी मीठी शराफत और निर्भय उच्छलता का प्रतीक है। फूल तो बहुत से होते हैं : एक से एक चटकीले, एक से एक खुशबूवाले, एक से एक कंटीले; पर बेला, गुलाब, जूही, चमेली, कुमुद, कमल बहुत कम आंगनों में मिलते हैं; और अकिंचन से अकिंचन आंगन में भी तुलसी की वेदी जरूर मिलती है, और उस वेदी पर तुलसी की मंजरी जरूर खिलती है। जिस तरह गौरैया में कोई रूप-रंग की विशेषता नहीं, कंठ में कोई विशेष प्रकार की विह्वलता नहीं, उड़ान भरने की भी कोई विशेष क्षमता नहीं, महज आंगन में फुदकने का उछाह है; उसी प्रकार तुलसी के पौधे में न तो सघन छांह की शीतलता है, न गंध का जादू, न रूप का शृंगार, केवल आंगन का दु:ख-दर्द बंटाने की मन में बड़ी उत्कंठा है। तुलसी की पूजा के लिए तो खैर शास्त्रीय आधार है, पर गौरैया के लिए मात्र जनविश्वास का यह उपहार-भर है कि यह पक्षियों में ब्राह्मण है, इसलिए इतनी ढीठ, इतनी निर्भय, इतनी आत्मीय और इतनी मंगलास्पद है। जो लोग चिड़ियों का शिकार करते हैं, वे गौरैया नहीं मारते, गौरैया मारना पाप समझते हैं।

मैंने अपनी ससुराल के बड़े आंगन में देखा है कि वहां गौरैया के लिए धानों की मोजर आंगन के चारों ओर ओरियों के नीचे बराबर लटकाई रहती हैं और धान की मंजरियों की यह पंक्ति रीतती नहीं। शायद इसलिए कि गौरैयों को भी इनके प्रति मोह हो। बहरहाल उस बड़े आंगन में बराबर धान सुखाया जाता है और उस पर बराबर गौरैयों के दल-के-दल आते रहते हैं, जरा-सी देर में जरा से इशारे से ये दल तितर-बितर हो जाते हैं पर जरा-सी आंख ओझल होते ही फिर वहीं जम जाते हैं। घर में रहते हुए भी ये स्वच्छ रहते हैं। वह आंगन बड़ा तो है पर भरा नहीं है। साल में केवल कभी-कभी वह आंगन मेहमान की तरह आये हुए बच्चों से भरता है, पर आंगन उनसे भरने वाला है या उनसे भर चुका है, मानो इसी आशा और इसी स्मृति में इन गौरैयों को ऐसा प्यार दिया जाता है।

एक दिन मैं वहीं था, जब कि किसी अखबार में पढ़ा कि चीन में एक नया पुरुषार्थ जागा है। वहां की उत्साही सरकार ने गौरैया को खेती का शत्रु मानकर उनके खिलाफ सामूहिक अभियान शुरू किया है। खैर, चीन में अभियान हो और वह सामूहिक न हो तो यह अनहोनी बात होगी, पर जब यह पढ़ा कि कुछ लाखों की तादाद में वहां के तरुण सैनिक बंदूक लेकर गौरैयों के शिकार के लिए निकल पड़े हैं तो हंसी भी आयी और रोना भी पड़ा। हंसी इसलिए कि गौरैयों पर वीरता का अपव्यय हो रहा है और रोना इसलिए कि जिस तरीके से और जिस पैमाने पर गौरैयों के वध की योजना बनाई गई है, वह कितना अमानवीय है। उसी अखबार में पढ़ा कि बंदूक दाग-दागकर झुंड-की-झुंड इन गौरैयों को खदेड़ते हैं और खदेड़ते ही रहते हैं ताकि ये कहीं बैठने को ठौर न पा सकें और अंत में बेदम होकर जमीन पर आ गिरें। ऐसे मासूम और मनुष्य के प्रति सहज विश्वास रखने वाले पक्षी को इस प्रकार निर्मूल करने की योजना सचमुच उन्माद से प्रेरित नहीं है तो क्या है? मैंने तो बुद्धिवादी कविताएं पढ़ी हैं, जिनमें ताजमहल के निर्माण पर शोक प्रकट किया गया है। जबकि मनुष्य का शव कफन के लिए भी तरस रहा है; जहां चींटियों के लिए आटा छींटने और मछलियों के लिए आटे की गोलियां फेंकने पर

व्यंग्य कसा गया है, जबकि मनुष्य भूखों मर रहे हैं; जहां कि गुलाब की क्यारियों पर तरस खाया गया है, क्योंकि गेहूं की देश में कमी है; और जहां कि कला की उपासना को ऐश समझा गया है, जबकि मनुष्य अभाव से ग्रस्त है। मैंने इस अभियान की सफाई के लिए उन कविताओं को एक-एक करके याद किया, पर मुझे लगा कि यह तो अभाव की पूर्ति की योजना नहीं है, यह तो पूंजीवाद को समाप्त करने का भी आयोजन नहीं है, और यह मनुष्य की सत्ता सृष्टि में सर्वोपरि मानने का कोई नया तरीका भी नहीं हो सकता है। गौरैया दाना चुगती है पर शायद जिस मात्रा में दाना चुगती है उससे कहीं अधिक लाभ वह खेत का इस प्रकार करती है कि अनाज में लगने वाले कीड़ों को वह साफ करती है। थोड़ी देर के लिए ही माना कि वह दाना देती नहीं केवल लेती भर है, तो भी क्या इस प्रकार समूची सृष्टि की समरसता के साथ खिलवाड़ करना उचित है? मनुष्य को इस प्रकार लाभ की आशा से नहीं मात्र अपनी प्रतिहिंसा की भावना से निरीह और अपने ही साथ अपने बच्चों की तरह निर्भय विचरने वालों को इस प्रकार थका-थका के, सता-सता के मारना कहीं न्याय है? यह कौन-सा पंचशील का उदाहरण है? शायद जितना अनाज गौरैयों ने खाया न होगा उससे कहीं अधिक दाम की गोलियां उन्हें सताने में बरबाद हो गयी होंगी। माना कि मनुष्य को अपने ही समान बुद्धि-बल वाले दूसरे देशवासी मनुष्य के साथ प्रतिहिंसा करने का सहज अधिकार थोड़ी देर के लिए हो भी और वह अपने निर्माण से अधिक अपने तुल्य-बल भाई के विध्वंस पर खर्च करने के लिए पागल हो जाए तो अनुचित नहीं, परंतु मनुष्य प्रफुल्लता के लिए, जिस मुक्ति के लिए, जिस राहत के लिए इस गला-काट व्यापार में लगा हुआ है, उसी उत्फुल्लता, मुक्ति और राहत के इन जीते-जागते प्रतिबिंबों को इस प्रकार नष्ट करने पर उतारू हो जाए, यह किस प्रकार समझ में आए?

हमारे देश में भी ऐसे सयाने लोग हैं, जो अपनी नाच की अयोग्यता आंगन के टेढ़ेपन के ऊपर थोपने के लिए ऐसे-ऐसे सुझाव देते हैं कि अन्न इसलिए कम पैदा हो रहा है कि चिड़िया उन्हें खा जाती हैं, बंदर उन्हें तहस-नहस कर जाते हैं, चूहे उन्हें कुतर जाते हैं, और धूप उन्हें सुखा जाती

है, इसलिए पहले इनके ऊपर नियंत्रण होना चाहिए ताकि खेती अपने-आप बिना मनुष्य के परिश्रम के अधिक उपजाऊ हो जाए। पर चीन के ये सयाने तो इस मात्र नियंत्रण तक संतुष्ट ही नहीं हैं, वे निर्मूलन में विश्वास करते हैं। सृष्टि के संतुलन बनें-बिगड़ें, यहां तक कि मनुष्य जिस लिए यह कह रहा है, वह भी उसे मिले न मिले, पहले वह अपने दिल का गुबार तो उतार ले। और चीन प्रज्ञापारमिता का देश है, बुद्ध की मैत्री का देश है, नये युग में मनुष्य के उद्धार का दावा करने वाला देश है, और है सहअस्तित्व, परस्पर सहयोग और प्रेम की कसम खाने वाला देश! लगता यह है कि चीन में जैसे कोई घर न रह गया हो, कोई आगन न रह गया हो, किसी घर और किसी आंगन के लिए कोई मुहब्बत न रह गई हो, किसी घर और आंगन में मुक्त हंसी न रह गयी हो, उसमें बच्चे न रह गए हों, और अगर रह भी गए हों तो किसी बच्चे के चेहरे पर विश्वास की चमक न रह गयी हो। तभी तो इन गौरैयों के साथ नादिरशाही बदला लिया जा रहा है। उनका अपराध केवल यही है कि वे निःशंक हैं और निःशंक होकर वे हर घर में आनंद के दाने बिखेर जाती हैं, जितने दाने लेती हैं, उन्हें चौगुना करके आनंद में परिवर्तित कर हर आंगन में मुक्तहस्त होकर लुटा जाती हैं। उनका अपराध है कि वे गमगीन नहीं हैं; उनका अपराध है कि वे कबूतर की तरह दूर तक गले में पाती बांधकर पहुंचा नहीं सकतीं; उनका अपराध है कि वे तोते की तरह हर एक स्तुति और हर एक गाली दुहरा नहीं सकतीं; उनका अपराध है कि वे अपने पंखों में सुर्खी नहीं लगा सकतीं; उनका अपराध है कि उनके पास वह लाल कलंगी नहीं है, जिसको सिर में लगाकर कूड़े की ढेरी पर खड़े होकर रात के धुंधलके में बांग दे सकें कि अरुणोदय होने वाला है; उनका अपराध है कि वे सुबह की साथी नहीं हैं, दोपहर की साथी हैं, वे गगन का पंछी नहीं, आंगन का पंछी हैं!

मुझे लगता है कि गौरैया के खिलाफ यह अभियान जिन राहगीरों ने चलाया है उनको अपनी राह की मंजिल नहीं मालूम। वे बिल्कुल नहीं जानते कि आखिर इस राह का अंत कहां है। आज यह गौरैया है, कल घर की बिल्ली हो सकती है, परसों घर का दूसरा पशु हो सकता है; और फिर चौथे दिन घर के प्राणी भी हो सकते हैं। यह आक्रोश असीम है, इसका अंत

नहीं है। संतोष की बात इतनी ही है कि भारत में ऊपर चाहे जो हो, भीतर एक दूसरी ही शक्ति का प्रवाह है जो मनुष्य को सृष्टि से ऊंचा बनाने पर बल नहीं देती बल्कि मनुष्य को सृष्टि के साथ एकरस बनाने में ही उसका गौरव मानती है। गौरैयों के प्रति हमारी प्रीति हमारे निजी स्वार्थ से प्रेरित है। हम उस गौरैया की उच्छलता अपनी संतान में पाना चाहते हैं, उस गौरैया का सहज विश्वास अपनी आने वाली पीढ़ी को देना चाहते हैं, जो हमसे ढिठाई के साथ हमारी विरासत छीनकर हंसते-हंसते और हमें हंसाते-हंसाते हमसे आगे बढ़ जाएगी। हम तुलसी का पौधा इसलिए नहीं लगाते कि तुलसी को वन में कहीं जगह नहीं है; और सबसे पहले दीया तुलसी की वेदी पर इसलिए नहीं जलाते कि उस दीये की लौ के बिना तुलसी को अपने जीवन में कोई गरमी नहीं मिलेगी; बल्कि हम तुलसी की वेदी अपने दर्द के निवेदन के लिए रचाते हैं और तुलसी का दीप अपने सर्द दिल को गरमी पहुंचाने के लिए जलाते हैं। हम जिस पारिवारिक जीवन के अभ्यस्त हैं उसमें राग-रंग और तड़क-भड़क के लिए कोई स्थान नहीं है, केवल एक-दूसरे से मिल-जुलकर, एक-दूसरे के प्रति बिना किसी अभिमान की तीव्रता के सहज भाव से समर्पित होने ही में हम जीवन की अखंडता मानते हैं। हमारा सांस्कृतिक जीवन भी इस पारिवारिक प्रेम से आप्लावित है, देवी-देवताओं की कल्पना, कुल पर्वतों, कुल नदियों की कल्पना, तीर्थ-धामों की कल्पना और आचार्यों-मठों की कल्पना पारिवारिक विस्तार के ही विविध रूपांतर हैं। यही नहीं, पारिवारिक साहचर्य-भाव ही हमारे साहित्य की सबसे बड़ी थाती है। यह कुटुंब-भाव ही हमें चर-अचर, जड़-चेतन जगत् के साथ कर्त्तव्यशील बनाता है। हम इसी से देश-काल की सीमाओं की तनिक भी परवाह न करके, अरबों प्रकाश-वर्ष दूर नक्षत्रों से और युगों दूर उज्ज्वल चरित्रों से उसी प्रकार अपनापा जोड़ते हैं, जिस प्रकार अपने घर के किसी व्यक्ति से। ग्रहों की गति से अपने जीवन को परखने का विश्वास कोई अर्थ-शून्य और अंधविश्वास नहीं है, वह कुटुंब-भावना का ही हमारे विराट्दर्शी भाव-जगत् पर प्रतिक्षेप है। जैसे परिवार में छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा एक-सा ही समझा जाता है, वैसे ही सृष्टि में हम 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' को एक-सी नजर से देखने के आदी हैं।

गौरैया मेरे लिए छोटी नहीं है, वह बड़ी है, वैसे ही जैसे मेरी दो साल की मिनी छोटी होती हुई भी मेरे लिए बहुत बड़ी है। 'बालसखा' के संपादक मित्रवर सोहनलाल द्विवेदी ने एक बार मुझसे बालोपयोगी रचना मांगी। मैंने उन्हें मिनी का फोटोग्राफ भेज दिया और लिखा कि इससे बड़ी रचना मैं आज तक नहीं कर पाया हूं। मिनी बड़ी है : मेरे अर्जित परिष्कार से, मेरी अर्जित विद्या से और मेरी अर्जित कीर्ति से; क्योंकि उसकी मुक्त हंसी में जो मोगरे बिखर जाते हैं, उनकी सुरभि से बड़ी कोई परिष्कृति, सिद्धि या कीर्ति क्या होगी। वही मिनी जब गौरैयों को देखकर नाचती है, उन्हें बुलाती है, उनके पास आते ही खुशी में ताली बजाती है, उन्हें धमकाती है, फिर मनाती है, तब मुझे लगता है कि सृष्टि की दो चरम आनंदमयी अभिव्यक्तियां ओत-प्रोत हो गई हैं—गीता की दो ब्राह्मी स्थितियां एकाकार हो गई हैं, और मुक्ति की दो धाराएं मिल गई हैं। इसलिए गौरैयों के विरुद्ध अभियान मुझे लगता है—मेरी और न जाने कितनों की मिनियों के विरुद्ध अभियान है। गौरैयां और मिनियां राजनीति से कोई सरोकार नहीं रखतीं, सो मैं राजनीति की सतह पर इनके बारे में नहीं सोचता परंतु, मनुष्य की राजनीति का जो चरम ध्येय है उसको ज़रूर सामने रखना पड़ता है और तब मुझे आक्रोश होता है कि भले आदमी मनुष्य बनने चले हो तो पहले मनुष्य के विश्वास की रक्षा तो करो। बंधुता बांधने चले हो पर ममताओं के बांध तो बने रहने दो! मुक्तिपर्व मनाओ, बड़ा अच्छा है, पर मुक्ति की जीती-जागती तस्वीरें क्यों फाड़ते हो? जन का आर्थिक और नैतिक अभ्युदय चाहते हो, ठीक है, पर उसके सहज आनंद का क्षण क्यों छीनते हो? अपनी चित्रकला में बांस के झुरमुट बनाकर उस पर चिड़ियों को बिठलाने वाले चितेरे, उन चिड़ियों को उनके बसेरों से क्यों उजाड़ते हो? चिड़ियों से चहचहाती लोक-कथाओं के रंग-बिरंगे अनुवाद छपाते हो, छपाओ पर उन चिड़ियों की चहचहान हमेशा के लिए क्यों खत्म किये दे रहे हो? तुम अपने घर आने वाली खुशी के लिए फरमान निकाल कर गमी बनाओ, पर तुम मेरे घर की खुशी, मेरी मिनी और उसकी सहेली गौरैयों की खुशी पर गमी की गैस क्यों छिड़क रहे हो?

मन में यह आक्रोश आता है पर फिर सोचता हूं यह आक्रोश प्रति-

गामिता है। मुझे धरती और धरती की परंपरा की बात भर करनी चाहिए, धरती के आनंद के उत्तराधिकारियों की बात करने पर आनंदवादी कहा जाता हूं—मेरे एक मार्क्सवादी मित्र ने मुझे यह संज्ञा दे रखी है। पर क्या करूं, गंवार आदमी हूं : क्या कहने से क्या समझा जायेगा, यह जानता ही नहीं, केवल जब कहे बिना रहा नहीं जाता तभी कहता हूं। गौरैया ने विवश किया, तुलसी ने विवश किया, मिनी ने विवश किया, तब मुझे कहना पड़ा। इन तीनों में मुझे धरती का दुलार छलकता नजर आता है, इसलिए मुझे उस दुलार के नाम पर यह गुहार लगानी पड़ती है कि धरतीवादियों, धरती वही नहीं है जो तुम्हारे पैरों के नीचे है, धरती तुम्हें अपने और असंख्य शिशुओं के साथ अपनी गोद में भरने वाली व्यापक सत्ता है। धरती की विरासत संभालना आसान नहीं, उस विरासत के असंख्य साझीदारों को मिलाये बिना तुम घर के कर्त्ता नहीं बन सकते। यह गौरैया, यह तुलसी, यह मेरी—और मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी—मिनी तो उस विरासत की असली मालिक हैं, यही हैं कि वे बिना मांगे अपनी मिल्कियत लुटा देती हैं। उनके प्रति कृतज्ञ बनो, अपने आप तुम्हारी बढ़ती होगी ! क्योंकि—

'अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्लङ्घ्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद् बहु ॥

●●

ब्रह्मपुत्र की मोरचेबंदी

धर्मवीर भारती

फौज का सवेरा भी खूब होता है। रात को जो शहर चारों ओर बस गया था, वह सारा सिमटकर लारियों और ट्रकों में भर चुका है और दो टुकड़ियां आगे मार्च भी कर चुकी हैं। हम जब अलसाते-अलसाते उठते हैं, तब तक हमारी इमारत के सारे सिपाही बिस्तरे बांधकर ट्रकों पर सवार हो चुके हैं। मेस से नाश्ते का बुलावा आ चुका है, नाश्ते के बाद मेस भी ट्रकों में लाद दी जायेगी।

साढ़े सात बज चुके थे और हमें ब्रिगेडियर और जनरल के पहुंचने के पहले शेरपुर पहुंचना था। जीप तैयार थी। सड़क के दोनों ओर हर पुलिया, हर गांव पर बच्चे-जवान-बूढ़े खड़े थे जो हमें देखते ही 'जय बांगला' से आसमान गुंजा देते। जीप देखते ही खेतों से बच्चे 'जय बांगला' चिल्लाते हुए दौड़ते थे। हर चेहरे पर एक उल्लास था, एक संतोष। जीप रुकवाकर लोग आते, हाथ मिलाते, धन्यवाद देते। रास्ता घंटे-भर का है; लेकिन निश्चय ही यह स्वागत देर करा देगा।

शेरपुर के कुछ पहले पक्की सड़क शुरू हो जाती है। तीन दिन से धूल उड़ाती कच्ची सड़कों पर धक्के खाने के बाद वह पक्की सड़क वरदान-सी लगती है। मालूम होता है कि शेरपुर होती हुई यह ब्रह्मपुत्र के किनारे तक जाती है। शायद कभी जमालपुर पर पुल बनाने का इरादा रहा हो, पर कभी बना नहीं। और, यही वजह है कि ब्रह्मपुत्र के उस पार जमालपुर पर पाकिस्तानी सेना ने बहुत सख्त मोरचेबंदी कर रखी है। वे

नहीं चाहते थे कि इधर से भारतीय सेना वढ़कर उस किनारे पर कब्जा करे और दोनों किनारे जोड़कर पुल वना सके। मैं चलती जीप में नक्शा निकालकर देखता हूं, तो जमालपुर के मोरचे का महत्त्व समझ में आता जाता है। अखवारों में जैसोर और कोमिल्ला की खवरें भरी पड़ी हैं। लगता है जैसोर और कोमिल्ला से ही वढ़कर हमारी सेनाएं ढाका में दाखिल हो जाएंगी। लेकिन उधर वीच में वहुत-सी छोटी-वड़ी नदियां हैं। दर्जनों। अत: एक स्थान पर पुल बनाने या नावों को जोड़कर ट्रक पार कराने में हफ्तों लग जाएंगे। लेकिन उत्तर से जनरल नागरा की इस सेना के मार्ग में भारतीय सीमा से ढाका तक केवल एक नदी है, ब्रह्मपुत्र। हमारी सेना उसे पार कर ले, तो माधोपुर टंगाइल से जयदेवपुर होते हुए ढाका तक सीधी पक्की सड़क है। रास्ते में कोई रुकावट नहीं। इसलिए जमालपुर का युद्ध वस्तुत: ढाका का युद्ध है। हमने जमालपुर ले लिया कि फिर ढाका को गिरते देर नहीं लगेगी।

तो वांगला देश की मुक्ति का असली मोरचा ब्रह्मपुत्र पर है। पूर्वी कमान की सारी रण-योजना सचमुच बड़ी कुशलता से बनाई गई है। जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर वहुत सावधानी से वढ़ रहे हैं। जनरल को विश्वास है कि सवसे पहले वे और क्लेर ही ढाका पहुंचेंगे।

लेकिन जव हम शेरपुर पहुंचते हैं, तो दूसरा मोरचा लगा हुआ है। आजाद उत्फुल्ल नागरिकों का मोरचा, भारतीय मित्रों के स्वागत के लिए रंग-विरंगी लुंगियां पहने किशोर, युवक, ईद के से कपड़े पहने बच्चे, कुर्ता-पाजामा और गले में रूमाल डाले बूढ़े मौलाना, स्टेनगन लिए मुक्तिवाहिनी के जत्थे। सड़क पर आस-पास के गांवों से आए किसान भारतीय सेना की हर ट्रक, हर जीप का 'जय बांगला' चिल्लाकर स्वागत करते हुए, उनसे हाथ मिलाते हुए, मना करने पर भी उन्हें पान-सिगरेट ला-लाकर देते हुए। लाउडस्पीकर पर मुक्तिवाहिनी का कोई सैनिक कुछ वोल रहा है—बांगला समझने की कोशिश करता हूं। वह कह रहा है, "१५ दिन पहले हम पर पाकिस्तानी फौज की हुकूमत थी, इसलिए आपने ईद नहीं मनाई। आज आजादी की ईद है। अब हम कभी गुलाम नहीं होंगे। हमारे भारतीय मित्र अपनी जान देकर हमारे लिए यह आजादी की ईद लाए हैं।"

कृतज्ञता और ममता किसी भी कौम की बहुत बड़ी सिफ़त होती है। मुक्तिवाहिनी के जवान हमें घेरकर मंच तक पहुंचाते हैं। हैलिकॉप्टर की आवाज सुन पड़ती है। लोग उछल-उछलकर देखते हैं। चक्कर काटकर हैलिकॉप्टर नीचे आता है। हवा के तेज झोंके, धूल का अंधड़। एक ओर की भीड़ छंटती है, सफेद कपड़ा उड़ जाता है। जनरल उतरते हैं, पीछे क्लेर। और, भीड़ ने दोनों को लपेट लिया। मालाओं से लाद दिया है। बूढ़े आगे बढ़कर दोनों योद्धाओं को गले लगाते हैं। दुआएं देते हैं। एक बूढ़ा फूटकर रो पड़ता है और रोता जाता है। लोग अपने बच्चों को गोद में उठाकर उनसे मालाएं डलवाते हैं।

बलबीर सिंह हमें अलग ले जाकर बताते हैं कि जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर हैलिकॉप्टर से जल्दी ही ब्रह्मपुत्र के किनारे जा रहे हैं, स्वयं वह क्षेत्र देखकर आगे की योजना बनाने। हम अब बातचीत छोड़-कर तुरंत जीप से जाएं। ब्रह्मपुत्र वहां से कई मील दूर है, लेकिन जनरल की सख्त हिदायत है कि ब्रह्मपुत्र के दो मील इधर जो पोस्ट है, बस वहीं रुककर जनरल का इंतजार करें। उससे एक इंच आगे नहीं जाना है। दोनों ओर से गोलाबारी हो रही है। अगर गोलाबारी शुरू हो जाए, तो जीप को खुली सड़क पर न छोड़ें। किसी पेड़ के नीचे या झुरमुट के पीछे खड़ी कर किसी आड़ में लेट जाएं। बलबीर सिंह बाद में जनरल के साथ आएंगे।

अब हमारी जीप तेजी से पक्की सड़क पर दौड़ रही है। सहसा हवाई जहाजों की आवाज आती है, हमारे दो बमवर्षक उड़ते हुए जमालपुर की ओर जा रहे हैं। रात को दुश्मन के बेतार से संदेश पकड़ा गया था। सुना जाता है कि सेनाध्यक्ष नियाजी ने ढाका से जमालपुर के कमांडर सुलतान अहमद को हुक्म दिया कि न केवल जमालपुर नहीं छोड़े, वरन् दूसरी जगहों से लौटी फौज को इकट्ठा कर, हो सके तो ब्रह्मपुत्र के इस पार ही भारतीय सेना पर ही हमला करके उसे घेर लें। किसी हालत में ब्रह्मपुत्र के तट तक नहीं पहुंचने दें। हमारे कमांडर ने अपनी वायुसेना से मदद मांगी है कि हमारे बमवर्षक दिन में ४ साट्रीज (बमवर्षक उड़ानें) लेकर जमालपुर में उनके सैनिक मुख्यालय, उनके शस्त्रागार और छावनी को

को वंबार्ड करें। साट्रीज शुरू हो गई हैं। हमारे बमवर्षक विमान उड़ते हुए उस पार जमालपुर पर चक्कर लगा रहे हैं। उधर से तोपें चलने लगी हैं। आसमान सहसा सजीव हो उठा है। हमारे विमान सहसा चील की तरह झपट्टा मारते हैं और दो भयानक धमाके सुनाई पड़ते हैं। दूर तक गांव, खेत, सड़क किनारे के पेड़ मानो कांप उठते हैं। आधे मिनट वाद दो धमाके, और फिर हमारे विमान घूमकर जिधर से आए हैं उधर ही तेजी से लौट जाते हैं। पांच मिनट बाद उधर की पाकिस्तानी तोपों की गरज सुनाई पड़ती है। हम जीप से उतरते हैं, पर सड़क पर लौटते भारतीय सैनिक हमें वताते हैं कि अभी हम आगे जा सकते हैं। ये तोपें हमारी ओर नहीं, भारतीय सेना की उस टुकड़ी की ओर चल रही हैं, जो रातों-रात वख्शीगंज के पास से चुपचाप नदी पार कर जमालपुर के वायें वाजू में जाकर मोरचेवंदी कर रही है। "अच्छा तो हमारे जवान उन्हें घेर रहे हैं ?" "हां, जनरल का हुक्म है कि उनके भागने और ढाका पहुंचने के रास्ते बंद कर दो। वे भागे, तो ढाका की सड़क ध्वस्त करते हुए जाएंगे।" जमालपुर की विशाल सेना के वाजू में जाकर हमारी इतनी छोटी टुकड़ी किस भयानक खतरे में होगी, हम यह कल्पना करके सिहर उठते हैं। भारतीय सैनिक किस फौलाद का बना होता है !

जनरल का हैलिकॉप्टर इंधर आकर उतरा है। जनरल नागरा हैं, ब्रिगेडियर क्लेर हैं, जो हमें पहले मिले थे। इंजीनियरिंग यूनिट के ब्रिगेडियर एन० एल० वेरी हैं। क्लेर के अंगरक्षक बलवीर सिंह हैं, नागरा के अंगरक्षक मेजर वामी हैं। और, दो-एक और नये चेहरे। हमें पहले पहुंचा देखकर जनरल नागरा खुश हैं, "शावाश !" वाईं ओर के केले और आम के कुंजों में हमारा तोपखाना है। उनके अधिकारी और स्थल सेना के लोग जनरल के पास आकर सैल्यूट देते हैं। जनरल उनके कंधों पर हाथ रखकर पूछते हैं कि कोई तकलीफ तो नहीं। एक सैनिक मुंह बनाकर कहता है, "जबरदस्त दुश्मनों से पाला पड़ा है साहब। हम पीछा करते-करते थक गए, वे कम्वख्त भागते-भागते नहीं थके। शेलिंग से उनकी एक अगनवोट भी डुबा दी, लेकिन उनका भागना नहीं रुका।"

"कहां तक भागेंगे ?" क्लेर ने कहा, "पाकिस्तान बहुत दूर है।"

अब यहां से हमें पैदल जाना है। दो मील दूर ब्रह्मपुत्र पर। चूंकि अब हम उनके तोपखाने और मशीनगनों की मार के अंदर हैं, अतः जनरल का हुक्म है कि सड़क पर हम बिखरकर चलें, झुंड बनाकर नहीं। सड़क के इधर-उधर जरा भी न जाएं, क्योंकि सुरंगें बिछी हैं। जनरल के साथ-साथ एक वायरलेस आपरेटर चल रहा है, जो वायरलेस से बराबर बातें करता जा रहा है। सड़क के दोनों ओर हाथ में सुरंगों का पता लगाने वाली घड़ी लेकर दो सैनिक चल रहे हैं, जरा आगे-आगे। यद्यपि खतरा है, लेकिन कई फर्लांग तक कुछ नहीं होता। और, अब ब्रह्मपुत्र दीखने लगी है। उस पार किनारे-किनारे मीलों तक बसा है जमालपुर। उत्तर में ढाका की रक्षापंक्ति की प्रथम दुर्भेद्य सैनिक छावनी। मैं बलबीरसिंह से दूरबीन मांग-कर देखता हूं। क्लेर मना करते हैं: यहां से नहीं, उधर बंकर खाई में बैठकर देखना ठीक होगा। अब बालू है और कुछ कंटीली झाड़ियां। बालू में उन्होंने एक बहुत बड़ी छावनी बनाई थी। तीन ओर गहरी खाई और हर कोने पर तथा बीच-बीच में बंकर। इन बंकरों में बेहद हथियार मिले। रात तक पाकिस्तानी यहां जमे थे। आधी रात भागे हैं। मुझे सिहरन होती है। जहां हम खाइयों में खड़े हैं, दस घंटे पहले तक यहां दुश्मन अपने हथियारों के साथ जमा था।

मेजर बामी के हाथ में प्लास्टिक कवर में लिपटे, जो बहुत बड़े नक्शे थे, वे जमीन पर फैला दिए गए हैं और खाई में खड़े होकर जनरल क्लेर, बेरी और दूसरे अधिकारी उन्हें देखकर आगे की रणनीति तय कर रहे हैं। बीच-बीच में वायरलेस पर संदेश आ-जा रहे हैं। कोई संदेश आता है और क्लेर रिसीवर का मुंह जनरल के कान के पास कर देते हैं। जनरल के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ जाती है। फिर संदेश भेजते हैं, "सुनो, देखा गया है कि एक ट्रेन तैयार खड़ी है। उनकी सेना उस पर कुछ लाद रही है। अगर यह सच है तो ट्रेन को रोको। उनके जाने के सब रास्ते बंद कर दो।...नहीं, सड़क तोड़ो' नहीं। पेड़ काटकर सड़क पर डाल दो।"

उस तरफ जमालपुर में बेहद खामोशी है। आदमी तो आदमी, सड़क पर, किनारे-घाट पर, एक चिड़िया नजर नहीं आती। उनकी तोपों का कहीं पता नहीं। हमारी तोपें भी खामोश हैं। "हमारे बमवर्षकों ने उनकी

सिट्टी-पिट्टी भुला दी है," कोई कहता है। "चलिए, अब उस बाईं वाली जगह से किनारे चलकर देखेंगे। वहां से जमालपुर का घाट सबसे नजदीक हैं," जनरल कहते हैं। यहां पर तो नदी ने मोड़ लिया है और कगार नीचे है। नदी पतली है, पर रेत का फैलाव बहुत है, इधर भी, उधर भी। वहां पर दोनों किनारे बहुत नजदीक आ गए हैं।

जनरल वहां जाकर उसे खुद देखना चाहते हैं। अब फिर दूसरी पार्टी बिल्कुल हमारे ऊपर से। हमारे बमवर्षक जाते हैं। और फिर दो-चार खौफनाक धमाके, और फिर खामोशी। जमालपुर में एक जगह से जोर का धुआं उठ रहा है। पाकिस्तानी तोपें बिल्कुल खामोश हैं।

बंकर से निकलकर हम फिर सड़क पर आते हैं, लेकिन सड़क पर नहीं चलते। मुक्तिवाहिनी के संपर्क अधिकारी अबू यूसुफ हमें सड़क पार खेतों में उतारकर झुरमुटों में से ले चलते हैं। छिपते हुए हम रुक-रुककर देखते हैं दूरबीन से, जमालपुर सुनसान है। खेतों के पार एक गांव है। घनी हरियाली वाला। हम गांव में पहुंचकर क्षण-भर को रुकते हैं। यूसुफ गांव वालों से कुछ बातें करते हैं। उनके माथे पर चिंता है। उनको खबर मिली है कि कोई रजाकार हमारी गतिविधियों की खबर जमालपुर को भेज रहा है। लेकिन खबर दो घंटे पहले की है। वे कुछ करने की स्थिति में होते, तो अभी तक कर चुकते। हम गांव से निकलते हैं। अब गांव और ब्रह्मपुत्र के बीच में आधे मील का खुला फैलाव है। कुछ दूर तक खेत और उसके बाद रेत। खेत में कहीं-कहीं तिल के पीले फूल खिले हैं, कहीं-कहीं बैंगन की छोटी-छोटी पौध, जिनमें इक्के-दुक्के नीले फूल हैं। आदेश है कि हम एक-दूसरे से काफी दूर-दूर पर, तितर-बितर होकर चलें, यथासंभव पीले फूलों वाले खेत में न चलें, क्योंकि रंग की पृष्ठभूमि में दुश्मन हमें आसानी से देख लेगा। अब खेत पार हो गए हैं। रेत काफी महीन और सूखी हुई है। पांव रखने से उड़ती है। इधर कगार बहुत ऊंचा है, नदी सिर्फ ५०० गज चौड़ी है। उधर जमालपुर का कगार नीचा है। घाट तक सड़क आती है। जमालपुर में घाट के किनारे एक पंक्चर हुई नागरिक बस खड़ी है। इधर हमारी ओर एक स्थान पर एक पक्की कांक्रीट की जेटी है, नीचे से बालू खिसक गई है। और बाहर निकली जेटी का एक भाग टूट

गया है, पर छड़ों के सहारे लटक रहा है। सामने ब्रह्मपुत्र के पानी में बांस गाड़कर मछली के जाल सुखाने की खड़ी मचान बनी है। इसी जेटी के पास बांस के मचान के पीछे होकर जनरल और उनके सहयोगी मौका-मुआयना कर रहे हैं। वह है जमालपुर की पानी की टंकी, यह है रेडियो टावर, यह है चार मंजिली एक ऊंची लाल नागरिक इमारत, वह है कॉलेज का पिछवाड़ा। बलबीरसिंह की दूरबीन हाथ से हाथ में घूम रही है। "वह देखिए, एक जीप आई है घाट पर, लेकिन नहीं, बैक करके बस के पीछे चली गई," कोई बताता है, फिर सब सुनसान। एक मिनट की अजीब चुप्पी। चुप्पी तोड़ते हैं ब्रिगेडियर क्लेर। जनरल के कंधों पर हाथ रखकर कहते हैं, "अब वापस चलना चाहिए, काम तो हो गया।"

और हमारा मुड़ना था कि "शू···शू···शू···शिक।" कोई चीज हमारे पास से गुजरती है और पास की रेत में धंस जाती है। रेत का गुबार उठता है, पलक मारते ब्रिगेडियर क्लेर लेट जाते हैं और अपने साथ जनरल को खींच लेते हैं, "लेट जाओ। दुश्मन फायर कर रहा है।" और वाक्य पूरा नहीं होता। हम लेट भी नहीं पाते कि 'शू···शिक' और फिर तो बौछार। मेरी आंखों के आगे एक क्षण के लिए अंधेरा-सा और फिर लाल उड़ते चकत्ते-से। शायद···! साथ के दो विदेशी फोटोग्राफर कांक्रीट स्लैब के नीचे हैं, उसके बाद बाहर जनरल नागरा और सबसे इधर खुले में मैं। वे चीजें ठीक हमारे ऊपर से गुजर रही हैं और बस पांच-छह गज की दूरी पर गिर रही हैं। दिल की धड़कन रुकने-सी लगी है। क्लेर कुछ कहते हैं पर हमारे कान जैसे सिर्फ 'शू···शू···शिक' सुन रहे हैं और मुझे जरा-सी चेतना आती है। कहां हैं बालकृष्ण, ब्रिगेडियर बेरी, कैप्टन भटनागर? मैं गर्दन घुमाता हूं, जनरल कड़कती आवाज में कहते हैं, "हिलो मत, चिथड़े उड़ जाएंगे। वे रिकॉयललेस गन चला रहे हैं।" रिकॉयललेस गन टैंक उड़ाने के काम आती है। मेरे होंठ सूख गए हैं, गला चिपक गया है, लेकिन जहां तक मुझे याद है, रिकॉयललेस न सुनकर मैं हंसने की कोशिश करता हुआ कहता हूं, "वे हमें टैंक समझ रहे हैं क्या?" लेकिन आवाज शायद कांप रही है। फिर भी बोलने से एक बात होती है। मैं देखता हूं, ब्रह्मपुत्र का शांत जल, चमकती धूप और हर दस सेकेंड के बाद अपने बिलकुल नजदीक उनके निशाने। "अब

उन्होंने मोर्टार भी चलाने शुरू कर दिए।" क्लेर कहते हैं। जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर बिल्कुल शांत हैं और वे, फार्यारिंग की क्या टेकनीक दुश्मन इस्तेमाल कर रहा है, इसकी बात हंस-हंसकर कर रहे हैं। कैसा विचित्र आत्मबल है हमारे योद्धाओं का। मोर्टार के गोले मेरे बिल्कुल नीचे पानी में गिरते हैं। छींटों से मैं भीग जाता हूं। फ्रेंच कैमरामैन मार्क रिबू कांक्रीट स्लैब के नीचे से मेरा नाम लेकर चिल्लाकर कुछ कहता है। मुझे मोर्टार के विस्फोट में कुछ सुनाई नहीं पड़ता। कोई हाथ बढ़ाकर मेरे गले में पड़ा रंगीन झोला खींचकर अंदर फेंक देता है। क्लेर इशारा कर रहे हैं कि जमीन से चिपककर लेट जाओ। जनरल अपना हैट उतारकर अंदर फेंक देते हैं और फिर जाने कौन-कौन लेटा-लेटा मेरे ऊपर बालू फेंक रहा है। नाक, कान, होंठ, गर्दन सब रेत से भर जाते हैं। बाद में मालूम हुआ कि जनरल और उनके दायें मैं बिल्कुल खुले में थे और जनरल के हैट की लाल पट्टी और मेरी पीली कमीज और नीला झोला धूप में खूब चमक रहा था और वे लोग ठीक उसी पर निशाना साध रहे थे। यही राज था कि गोले ठीक मेरे सामने और दायें पांच-छह गज की दूरी पर गिर रहे थे। बालू फेंककर मेरी कमीज ढांकी जा रही थी।

हमारे बिल्कुल पीछे से गन का एक राउंड छूटता है। पहला ख्याल यही होता है कि दुश्मन पीछे भी आ गया है, लेकिन ब्रिगेडियर वेरी कुछ चिल्लाकर कहते हैं जिससे मालूम होता है—बलबीरसिंह जान का खतरा लेकर घुटनों के बल खेत की मेड़ पर बैठकर गन चला रहे हैं। शायद बलबीर सिंह की गन का इशारा था कि इधर से हमारे तोपखाने ने फायर शुरू कर दिया। आधे मिनट के बाद शायद हमारे तोपखाने की वजह से उन्होंने अपने मोर्टार और रिकॉयललेस की पोजीशन बदली होगी, क्योंकि आधे मिनट के लिए फायरिंग बंद हुई। "लौटिए और छितराकर। फायरिंग हो तो लेटिए, फिर बढ़िए" हम उठकर भागते हैं। और फिर फायरिंग जारी। लेटना, फिर भागना, फिर लेटना, फिर भागना। भागते-भागते मैं देखता हूं कि बालकृष्ण आगे हैं, बाईं ओर, पीछे मैं हूं और सबसे पीछे ब्रिगेडियर वेरी। बाद में मालूम हुआ कि गोले की चोट से उड़ा एक कांक्रीट का टुकड़ा उनके पैर में लग गया है।

सांस चढ़ गयी थी। मुंह पर खून झलकने लगा था। आंखों से धुंधला दीख रहा था। कुछ तो खून का दवाव, कुछ पलकों में भरी रेत, थोड़ी देर में यह भी होश नहीं रहा कि फार्यारिंग कब आयी, किस ओर आयी, वस अंधाधुंध गिरते-पड़ते लेटते-उठते भागना और वह भी रेत में, ऊंचे-नीचे खेतों में—गांव अभी कितनी दूर है? देखने में वह रहा, पहुंचने में हर खेत पार करने में चार-चार फार्यारिंग !

और मृत्युयात्रा का दूसरा चरण शुरू होता है। हम खेतों में दूर-दूर छितराकर चल रहे हैं। उन्होंने भी मोर्टार रिकॉयललेस की जगह मीडियम मशीनगन चलाना शुरू कर दिया है। पर अव हम लेटते नहीं, वस सावधानी से बढ़ रहे हैं। जव अपनी जीपों के पास अपने तोपखाने की यूनिट के किनारे पहुंचे, तव जांघें इस कदर भर गयी थीं कि हर कदम उठाने में कराहने की तवीयत होती थी।

हम वेहद थकान महसूस कर रहे हैं, पर आराम कहां करें? हमारा सामान-विस्तर तो सव वख्शीगंज में है। लेकिन मेजर राजपाल वताते हैं कि आपका सव सामान सेना के साथ शेरपुर आ गया है। वख्शीगंज में तो अव तक पीछे वाली यूनिट आ चुकी होगी। सामान हमारा उसी सामने के गोविन्दचन्द्र इंस्टीट्यूशन के वायें वाजू के एक कमरे में लगा दिया गया है। गजव है उनका इंतजाम कि जहां हजारों सैनिकों, सैकड़ों सप्लाई की ट्रकों, टनों हथियारों के ठीक समय पर ठीक जगह पहुंचाने का इंतजाम है, वहीं हमारा छोटे-से-छोटा सामान भी हमारे विना पहुंच जाता है।

व्रिगेडियर वेरी ने विना दूरवीन के देखा था कि जीप आई थी और वैंक होकर वस के पीछे चली गयी थी। उसी पर वे रिकॉयललेस गन लादकर लाए थे। वस की आड़ से चला रहे थे। रिकॉयललेस गन और मोर्टार में एक फर्क होता है—मोर्टार का गोला जहां गिरता है वहां से उछलकर स्प्लिटर चारों ओर दस गज के दायरे में गिरते हैं। अतः आप पर ही गोला न गिरे दो-एक गज दूर गिरे तो आप वचस कते हैं। वह गोला आसमान में एक विंदु तक जाकर सीधे नीचे गिरता है। पर रिकॉयललेस की मार सवसे घातक होती है। जमीन से विल्कुल ऊपर तिरछी आती है और अगर आप जरा भी हिले, ६ इंच ऊपर भी, तो चिथड़े उड़ जाएं। टैंक की फौलाद को

भी भेद देती है। और कहीं वहां बालू न होकर कंकड़-पत्थर होते तब तो हमको कोई नहीं बचा सकता था। हर गोले के बाद जो स्प्लिटर उड़ते, वे सबको ले डालते, चाहे हम लेटते, चाहे छिपते। हमें क्या मालूम था कि ब्रह्मपुत्र का जल हजारों वर्षों से हिमालय के पत्थर पीस-पीसकर जो बालू बनाता रहा है वह इसलिए कि इन घातक गोलों को सोख ले। बालू की वजह से हम बचे हैं, यह जानकर ही उन्होंने गांव के बाद हम पर मीडियम मशीनगन चलाना शुरू किया था, क्योंकि यदि वह निशाने पर बैठ जाएं तो फिर बचना मुश्किल था।

सुरक्षा के कवच में पहुंचकर अब फुरसत मिल पाती है कि उन क्षणों को एक बार निश्चितता से फिर मन में जी भर देखें, उस समय मैं क्या सोच रहा था। कैसी लगती है मौत, जब वह सिर पर निर्बाध नाच रही हो! नये दोस्तों की पुरजोश बातचीत से कमरा गूंज रहा है, लेकिन मैं अपने में डूबा हुआ हूं। मौत के आकस्मिक साक्षात्कार की जांच-पड़ताल में। कैसा अजीब है कि अब तक जो पढ़ा-सुना, उससे यह अनुभव बिल्कुल अलग था। उस समय एक क्षण को स्तब्ध था, बिल्कुल जैसे होंठ पर शब्द, आंखों में दृष्टि, नसों में खून एकदम बर्फ जैसा जम गया हो, फिर जैसे सारी संज्ञाएं लौट आई थीं। दृष्टि में था केवल जनरल और ब्रिगेडियर का शांत संतुलित चेहरा, जो अजीब सकून दे रहा था।

और फिर सब भूल-भाल कर उन आवाजों को सुनने में लग जाता हूं जो फायरिंग की वजह से रही हैं। रिकॉयललेस का गोला आता है 'शू···शू···' जैसे किसी हरे-पीले बांस में से तूफान गुजर रहा हो और फिर वह बालू में धंसता है—'शिक'। और कैसा अजीब है कि बालू व हवा में उड़ने की भी एक आवाज होती है। पर उसे अक्षरों में कैसे लिखा जाए? और फिर मोर्टार की आवाज इससे बिल्कुल अलग। और मोर्टार का खोला जब ब्रह्मपुत्र के पानी में गिरता है, तो 'छुप' पानी के छलकने और किसी जलती चीज के बुझने की आजीब-सी मिली-जुली आवाज और फिर जहां मोर्टार गिरा है, वहां से काली कीचड़ मिली बालू का एक फव्वारा उछलता है, बीस-तीस गज ऊंचा और ऊपर जाकर छितरा जाता है। और फिर हजारों-लाखों छींटों में बिखरकर काली बालू के कण देर तक पानी में दूर तक

गिरते रहते हैं---पट-पट, पट-पट !' हजारों छोटी-छोटी भंवरनुमा लहरें वनती हैं, फैलती-फैलती गुम हो जाती हैं और फिर ब्रह्मपुत्र का वही शांत, मंथर प्रवाह, जैसे कुछ हुआ ही न हो। घर, पत्नी, बच्चे, लेखन, कामकाज यह सब तो बाद में याद आया, अब अपनी आर्टिलरी यूनिट में चाय पीते हुए हेलिकॉप्टर के पाइलट वर्मा और एम० एम० सिंह के साथ चाय के प्याले पर ठहाके लगा रहा था, लेकिन उस चरम क्षण में तो सिर्फ ये आवाजें थीं, जिनमें पाकिस्तानी वारूद, बांगलादेश की वालू और अपनी सेना के सेतुलक्ष्य ब्रह्मपुत्र का जल सब उलझ गए थे।

रात को सोया तो लगा, माथे पर ब्रह्मपुत्र का शीतल जलप्रवाह शांति दे गया है। गालिव याद आते हैं, 'मौत का एक दिन मुअय्यन है' उस निश्चित दिन के पहले कुछ नहीं होगा, होगा भी तो इसी तरह मौत शायद नींद की एक गहरी नदी होगी। मैं शांत बहती नदी में धीरे-धीरे घुल जाता हूं। नींद में निश्चित, सब शांत हैं, सिर्फ़ वहर के पोखर में कभी-कभी मछलियों के उछलने की छपछपाक आवाज आती है।

●●

चिंतन चालू है

शरद जोशी

कई वार मुझे यह भ्रम हो जाता है कि देश प्रगति कर रहा है। और कई वार यह भ्रम हो जाता है कि यह भ्रम नहीं है, वाकई कर रहा है। इसके वाद अगला प्रश्न उठता है कि कहां से, किस दिशा में प्रगति कर रहा है? और क्या भारतीय प्रगति के संदर्भ में दिशा शब्द का उपयोग किया जाना चाहिए अथवा नहीं? प्रगति कहीं से किसी दिशा में हो रही है या किसी दिशा से कहीं भी हो रही है। दिशा से दिशा में हो रही है अथवा कहीं से कहीं हो रही है? क्या दिशा कहीं है? क्या कहीं दिशा है? क्या भारतीय संदर्भ में प्रगति और दिशाभ्रम समानार्थक शब्द हैं? कोश क्या कहता है? जिनमें जोश है, उनका जोश क्या कहता है? जो दिशा की बात करते हैं, उनकी दशा क्या है? जो दशा को रोते हैं उनकी दिशा क्या है? इसमें चिंता किस विषय में की जानी चाहिए? उनके रोने पर, दशा पर या दिशा पर? और उसके साथ हर उदीयमान राष्ट्र का एक वाल-सुलभ प्रश्न है कि दिशाएं कितनी हैं? तथा करोड़ों के देश में कुल मिलाकर दशाएं कितनी हैं? राजनीति का सवाल है कि रोने वाले कितने हैं? आप क्या कर रहे हैं?

चिंतन चालू है। उसे करने वाले भी कम नहीं। वे भी चालू हैं। वे रो

रहे हैं। भारत में रोने वालों की तीन जातियां हैं। कुछ अतीत पर रोते हैं कुछ भविष्य पर, कुछ वर्तमान पर। जिसकी जैसी औकात है वैसा वह रोता है। रोना राष्ट्रीय धर्म है, आपकी गंभीरता और जागरूकता का सूचक। रोना मुक्ति नहीं, असफलता नहीं, धंसने का प्रयत्न है। रोना आपके सरोकार का, गहरे लगाव का सूचक है। रोने से दरवाजा खुलता है। जिस स्तर पर रोओ, उस स्तर का दरवाजा खुलता है, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रोने वाले के लिए विदेश का दरवाजा खुलता है, प्रांतीर स्तर पर रोने वाले के लिए राजधानी का दरवाजा खुलता है। जो राष्ट्रीय स्तर पर रोए, उनके लिए दिल्ली का दरवाजा हमेशा खुला रहा। रोइए, दरवाजा खुलेगा। अंदर जाइए, वहां अन्य रोने वाले मिलेंगे। काम चालू है, चिंतन चालू है। एजेंडा बदलता है, मगर रोने की कार्रवाई चलती रहती है।

टुच्चे हैं, जो वर्तमान पर रोते हैं। बहुत गहरे हैं, जो अतीत पर रोते हैं। महान हैं, जो भविष्य पर रोते हैं। देश की खास बात है कि किसी की उपेक्षा नहीं हो रही। काम बराबर चल रहा है। चिंतन चालू है। जिसका वर्तमान सध गया, वह भविष्य पर रोने लगा। वह भी सध गया, तो अतीत की चिंता में डूबा। इतिहास के जिक्र से मानसिक ऐयाशी की गंध आती है। आने दो। हर गहरी वस्तु से आती है। रोने का शिल्प वैविध्यता से पूर्ण है। जिसके हाथ में अखबार है वह रो रहा है। जिसके हाथ में किताब है, वह रो रहा है; जिसके हाथ में माइक है, वह रो रहा है। सभी राष्ट्रधर्म पर बलि-बलि जा रहे हैं। रोना राष्ट्रधर्म है। आंसू गहराई के सूचक हैं। चूंकि कुर्सी पर बैठा व्यक्ति सामने खड़े व्यक्ति की तुलना में अधिक गहरा है, अतः वह अधिक रो रहा है। नदियां बह रही हैं।

नदियां बह रही हैं, जो कुर्सियों में समा जाती हैं। सारी नदियां अंततः कुर्सियों में बदल जाती हैं। प्रवाह की आत्मा टेबल की शक्ल ले लेती है। शरीर कुर्सी का है। चिंतन चालु है। नदी कुर्सी है। नदियां कुर्सियां हैं। नदी की दिशा क्या है? कुर्सी की दिशा क्या है?

कुर्सी का मुंह सामने वाले की तरफ है। सामने वाले का मुंह कुर्सी की तरफ। दिशाएं औकात से निश्चित होती हैं। इस पार प्रिये कुर्सी है, उसका मजा है, उस पार न जाने क्या होगा ? कुछ नहीं है उस पार। आदमी आवेदन लिये खड़ा है। उसकी दिशा, उसकी औकात ने निश्चित की है। वह इधर देख रहा है, आप उधर देख रहे हैं। पूरा देश इधर-उधर देख रहा है। सब कयामत की नजर रखते हैं। दिशा पर टकटकी लगी है। खड़े होंगे तो कुर्सी पीछे हटानी होगी। नदी पीछे नहीं हटती। इसीलिए बैठे हैं। खड़े नहीं हो सकते। रो रहे हैं कि खड़े नहीं हो सकते। माइक पर रो रहे हैं। फूलों के हार से कंठ रुंधा है। कारों ने पैर सुन्न कर दिए। सोफे दलदल हैं, मनुष्य मजबूर है। वह धंसा हुआ रो रहा है। उसके आंसू राष्ट्र की समस्या है। उस पर ध्यान दो। सुर में सुर मिलाओ। राष्ट्रधर्म है।

चिंतन चालू है। दशा का अध्ययन और दिशा की तलाश चालू है। काम बराबर बंटा है। कुछ दशा पर चिंतित हैं, कुछ दिशा पर। कुल मिला-कर ध्वनि रोने की है। कहां जाएं, कैसे जाएं और क्यों जाएं ? कौन जाएगा ?

जाने वालों के चित्र छप रहे हैं। कार्टून छप रहे हैं। बयान दे रहे हैं, हूट हो रहे हैं। कुल मिलाकर वे सफल हैं। जाना नहीं है, पर निरंतर जाते रहना है। स्टेशन पर दूकान खोल बस जाना है। रेलों की घोषणाएं करनी हैं, गंभीर सूचनाएं देनी हैं, खुद कहीं नहीं जाना। यात्रा से बड़ी राष्ट्र-सेवा है—जंक्शन के खानसामा हो जाना। जो भी दिशा हो हम थाली सप्लाई करेंगे, विचार सप्लाई करेंगे, चिंतन सप्लाई करेंगे। यात्री दिशा की सोचता है, खानसामा अपनी दशा की सोचता है। भीड़ है, घोषणाएं हैं, ठेले हैं, खिड़की से बाहर झांकते चेहरे हैं और उन सब को चीरते थाली लिये खान-सामा और बेयरे हैं। सब गड्डमड्ड है और यही राष्ट्र है। अगले स्टेशन पहुंचने की चिंता से इस स्टेशन पर थाली का इंतजाम करना जरूरी है। यही राष्ट्रधर्म है। हमें खिलाओ ताकि हम बो सकें। कुर्सी दो ताकि हम

विचारें। माइक दो ताकि हम रोयें। आओ, सब मिलकर रोयें। सहयोग करें। कुर्सी वालों, माइक वालों से सहयोग करें। तेरे तंत्र की शरण हमारा विचारशील सिर हो। राष्ट्रधर्म पर बलि-बलि जायें।

चिंतन चालू है। रोना जारी है। जिनकी औकात बड़ी है, उनकी कुर्सी गोल-गोल घूमती है। दिशाएं बदलना हर गोल घूमने वाली कुर्सी का जन्म-सिद्ध अधिकार है। आंसू का विषय बदलता है। नदियां रुख बदलती हैं। राष्ट्र परिवर्तन की चेतना से चकाचौंध हो अंधों के अंदाज में हाथी को महसूस कर किलकारियां भरने लगता है। दूसरे ही क्षण वह गंभीर हो जाता है और हाथी का आकार पहचानने लगता है। वह किस दिशा में जाएगा, पता लगाता है। चिंतन चालू हो जाता है। दशा क्या है, दिशा क्या है? हाथी ठहरा हुआ है। या शायद वह चल रहा हो, अंधे ठहरे हुए हैं। या दोनों चल रहे हों। अंतर नहीं पड़ता। दशा और दिशा में एकरूपता-सी लगती है। हम जहां हैं, वहां से वहीं-वहीं चलते, उसी जगह पहुंचते हैं। चिंतन जारी है। हम चलने के बावजूद पहुंच नहीं रहे। पहुंचने के बावजूद नहीं चले थे क्या? आंसू बहने लगते हैं, स्वर फूतते हैं। माइक वाला अपनी ऊंचाई के अनुरूप माइक एडजस्ट करने लगता है। क्षण-भर का काम है। माइक के अनुरूप अपनी ऊंचाई बनाने के लिए कितने वर्ष लगे थे आपको? आपके अनुरूप माइक क्षण-भर में फिट हो जाता है। सारे रोने, सारे चिंतन का यह उपलब्धि-बिंदु है। सदैव मानव यंत्र से समझौता करता है। नेता हो जाने पर यंत्र मानव से कर लेता है।

चिंतन चालू रखिए। बोलिए। रोइए। दशा बताइए, दिशा दीजिए।

"भाइयो और बहनो, आज इस बांध का उद्घाटन करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। आप तो जानते ही हैं कि पूज्य बापू ने बांधों के

विषय में क्या कहा है। आज इस बांध से इस क्षेत्र की प्रगति होगी। कमीशन, भ्रष्टाचार आदि मिलाकर इस बांध की लागत…"

जारी रखिए। सुनने के लिए भीड़ खड़ी है। उसे यह भ्रम है कि राष्ट्र प्रगति कर रहा है। और हो सकता है कि यह भ्रम भी एक भ्रम हो और राष्ट्र वाकई प्रगति कर रहा हो।

तब अगला प्रश्न उठता है।

उठने दो। निपट लेंगें। चिंतन चालू है!

लंका की एक रात

कुबेरनाथ राय

लंका की एक रात, अर्थात पहले दवे-पांव, सावधान चक्षु संध्या, तब निर्मल चंद्रोदय, फिर मुक्त ज्योत्स्ना और अंत में मर्दिता-धर्षिता शेष रात्रि जिसका अवसान उबासी, उपरति और अपच में होता है। सुंदर कांड के सर्ग ४ से ११ तक पढ़ता गया और अंत में मुझे लगा कि मैं गांव के प्रीतिभोज के बाद फेंके गए जूठे पत्तलों और मृद्‌भांडों के बीच बैठा हुआ हूं। बाल्मीकी ने सचमुच यहां संकेतगर्भी काव्य प्रस्तुत किया है। एक कामविद्ध पुरी है। उस पर काम रूपी रात अपनी उदार, विदग्ध और विकृत तीनों भूमिकाओं के साथ उतरती है और इसी मायामय वातावरण में एक स्थितधी पुरुष निराधार व्रतबद्ध रूप में, खंड-प्रति खंड कोण-प्रतिकोण दबे पांव सावधानी से चल रहा है। वह पछताता है, फिर संभलता है; कुछ क्रुद्ध होता है, फिर संभलता है; निराश होता है, फिर संभलता है। अद्‌भुत धीरता के साथ एक वानर वीर लंका का कोना-कोना छान रहा है।

सीता-हरण हुए दस मास हो चुके हैं, सीता-हरण माघ के अंतिम भाग में या फाल्गुन के प्रारंभ में विंदु मुहूर्त में हुआ था। तब से यह दसवां मास चल रहा है और असंभवतः अगहन शुक्ला एकादशी तिथि है। कम से कम 'पद्मपुराण' का तो यही साक्ष्य है। यद्यपि उत्तर भारत के रामायणियों में प्रचलित तिथिक्रम से 'पद्मपुराण' में उल्लिखित तिथिक्रम मेल नहीं खाता है, विशेषतः सीताहरण प्रसंग के बाद। पर मार्गशीर्ष की एकादशी को समुद्र-लंघन, द्वादशी को सीता-दर्शन और तेरस को लंका-दहन दोनों परं-

पराओं में मान्य है। भेद आता है पक्ष के संबंध में। पर यदि वाल्मीकी रामायण को पढ़ें तो ज्ञात होता है कि रात्रि के प्रारंभ होते ही चंद्रोदय हो गया। अतः यह निश्चय ही शुक्ल पक्ष का वर्णन है।

सुंदर कांड पढ़ने से ज्ञात होता है कि सीता से भेंट जिस दिन हुई, उसके पहले की रात को वे संध्या से रात्रि के अंतिम क्षणों तक 'लंका कामरूपिणी' नगरी के सारे लीला व्यापार को हाट-बाट, वन-वीथी घूम-घूमकर देखते रहे। जिस संध्या को वे लंका में रात्रि आगमन के साथ ही प्रवेश करते हैं उस संध्या को चंद्रोदय लांछित रूप में वर्णित किया गया है। मारुति के सहायक के रूप में 'साचिव्यमिव' चंद्रमा का उदय द्वितीय सर्ग में ही कह दिया गया है :

शंखप्रभ क्षीर मृणाल वर्णम्
उद्गच्छमानं व्यवभासमानम्
ददर्श चन्द्र स कपि प्रवीरः
पोप्लूयमानं सरसीव हंसम्।

—ज्योत्स्ना की धारा में प्लावित होकर यह मायापुरी, और कामरूपिणी एवं और बहुरूपी बन जाती है। कपि इस 'रावण बाहुपालिता' पुरी के सिंहद्वार से न प्रवेश करके परकोटे को फांदता है और वाम पग से इसमें प्रवेश करता है।

चांदनी एक मायादर्पण है, जिसमें कटु कठोर चेहरे पर भी एक अस्पष्टता का और फलतः एक कोमलता का प्रलेप हो जाता है। चेहरे की स्पष्ट, कटुतीक्ष्ण रेखाएं दुग्धाभ छाया में लुप्त-सी हो जाती हैं। कपि-श्रेष्ठ के कवि-मन को इस ज्योत्स्ना-वितान और चंद्रमंडल ने बड़ा ही प्रभावित किया। वाल्मीकि की अंतर्दृष्टि कपि के मन में 'मृगपति सरिस असंक' चंद्र को देखकर उठे हुए वीरोपम उदात्त भाव बिम्बों को पहचान जाती है और उन्हें इस प्रकार व्यक्त करती है :

हंसो यथा राजत पंजरस्थः
सिंहो यथा मन्दर कन्दरस्थः
वीरो यथा गर्वित कुंजरस्थ-
श्चन्द्रोपिवभ्राज तथाम्बरस्थः।

× × ×

शिलातल प्राप्त तथा मृगेन्द्रो
महारणं प्राप्त तथा गजेन्द्र:
राज्य समासाद्य यथा नरेन्द्र-
स्तथा प्रकाशोविरराज चन्द्र ।

वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास उन कवियों की श्रेणी में आते हैं, जिन्हें योगी अरविन्द के शब्दों में पुरुष-प्रधान या मरदाने कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। चंद्रमा को देखकर कवि को किसी चंद्रोपम उर्वशी मुख की याद नहीं आयी। कवि की सारी उपमाएं मरदानी हैं, मत्त वृषभ, मत्तगयन्द, शिला-समासीन मृगेन्द्र, गर्वोन्नत कंजरस्थ वीर आदि। ये सारी उपमाएं उस वानर-चरित्र के समानांतर जाती हैं, जिसकी सृष्टि करना इस सुंदर कांड का मूल उद्देश्य है। इसी से चंद्रमा का प्रथम वर्णन कवि ने श्रृंगार-संपन्न पर श्रृंगारितारहित अपूर्व श्रीमयी भाषा में किया है। उदात्त पौरुषमय श्लोकों के बीच में ऐसे लक्ष्मी-संपन्न श्री-संपृक्त श्लोक भी गूंथे गये हैं कि चंद्रोदय का प्रथम दर्शन वीरता और ओज के साथ निर्मलता, कांति, स्वास्थ्य, दोषमुक्ति और संपन्नता का वातावरण भी तैयार करता जाता है :

लोकस्य पापानि विनाशयन्तं
महोदधिं चापि समेधयन्तम्,
भूतान सर्वाणि विराजयन्तं
ददर्श शीतांशुमथाभियन्तं ।
या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
यथा प्रदोषेषु च सागरस्था
तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
रराज सा चारु निशाकरस्था ।।

परंतु महाकवि की दृष्टि सर्व-संश्लेषी ही होती है। आगे चलकर इसी निर्मल चंद्रिका को इस कामरूपिणी पुरी के स्वभाव के अनुरूप अन्य भूमिका लेनी होगी। यह शंखप्रथा, दुग्धोपम, मृणालवर्णी चंद्रज्योत्स्ना अपनी सरल उदात्त और सहज श्री को छोड़कर वैभव की विदग्धता का कलाप धारण

करेगी। जो हंसवर्णी बनकर उदित हुई वह इस विलासपुरी में उतरकर पहले मयूरकलापी बनेगी और इसे अंत में विलास-मर्दित होकर बासी पांडुर काक-ज्योत्स्ना बनकर अमर हो जाना पड़ेगा और तब रात्रि के अंतिम प्रहर में बाहर-बाहर विडाल-चक्षु अंधकार घूमेगा और भीतर-भीतर शृंगारवर्त्तिका रात-भर जलती रहेगी, आत्मक्षय की सुलगती अंतर्व्यथा के साथ। इस पुरी की आसक्ति के साथ-साथ ज्योत्स्ना को भी तालमेल बैठाकर चलना होगा। इस आसक्ति का विदग्ध चित्र तो रावण के वद्धकक्ष, दीपालोक से सज्जित अन्तःपुर में मिलता है, जहां ज्योत्सना की कोई भूमिका ही नहीं। पर बाहर से इसका क्या असर होगा, यह कौन सी मत्तता, किस उन्माद की सृष्टि करेगी, इसका संकेत चंद्रोदय-वर्णन के ही संदर्भ में महाकवि ने कर दिया है। धीरे-धीरे सारी लंका 'चंद्राहत' भाव में आ जाती है, प्रकाश कांति और निर्मल स्वास्थ्य के साथ, पर अब चंद्रमा भोग, उद्दीपन और ममता का स्रोत बन गया है। मदिरा और मांस-भक्षण की इच्छा बढ़ रही है, पखावज पर बजती वीणा के साथ-साथ गात्रवीणा भी अंतःकंपित हो उठी है और स्नायु-मंडलों में मत्तता और आसक्ति का अपूर्व संगीत बज रहा है। कोई वक्षस्थल से वक्षस्थल टकराकर बलोन्माद का प्रदर्शन करता है, तो कोई धनुष को इस बेमौके चढ़ाकर टंकार कर रहा है। लगता है कि भुजाएं वश में नहीं हैं, कुछ कर डालना चाहती हैं। दूसरी ओर कोई किसी अपनी ही छवि से दीप्त कांता को निशीथ अंधकार में दृढ़ आलिंगन में बांध लेता है तो कोई तप्त कांचनवर्णी प्रगल्भा दीप जलाकर प्रतीक्षारत है।

लंका में कहीं रंग है, कहीं प्रतिरंग है, कहीं विरंग है। बाहर-भीतर चारों ओर बहुवर्णी रात छमाछम नृत्य कर रही है। सारे लीला-व्यापार उसके ही कलाप हैं। चंद्र-ज्योत्स्ना के नृत्य कलाप का यह अंतिम मंडल है। अंत में महाकपि कहता है: "रात धूसर-पांडुर होती जा रही है। पर आह, अभी तक जानकी नहीं मिली।" और वानर वीर चांदनी के अंतिम चरण में ही रावण के अंतःपुर में प्रवेश कर जाता है। दो-तिहाई रात तो लंका की विशाल एवं ज्योत्स्ना-आहत नगरी में घूमते-छानते-खोजते बीत गयी। अब इस महापुरी का केंद्र रावण के प्रासाद का अंतःपुर शेष बचा है। और

वानर वीर बड़ी सावधानी से अंतःपुर में प्रविष्ट हो जाता है। इसके बाद असंख्य दीपों के सतरंगी कलाप से झिलमिल इन विलास-कक्षों का वर्णन करते समय महाकवि बाहर क्षीण होती हुई ज्योत्स्ना का एक बार भी नाम नहीं लेता कि कब उसका सोलहों श्रृंगार से युक्त श्वेत मयूर-कलाप अस्त हो गया, कब वह डूब गयी, कब लंका की चंद्राहत मुग्ध मनोदशा का अर्ध-निद्रा में अवसान हो गया। अब कवि दूसरे प्रकार के मिजाज या 'मूड' की सृष्टि करने में रत हो जाता है। वह ज्वलंत रूप-सज्जा के मध्य दग्धता, घर्षण और उच्छिष्टता का 'मूड' रचने की चेष्टा करता है।

रावण का अंतःपुर, 'समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रमिव निःस्वनं', दुर्गम, अतलोपम अंतःपुर है, जिसमें कोई परपुरुष डूबे तो फिर थाह न पा सके। कभी-कभी वाल्मीकि का एक ही वाक्यांश बहुत बड़ा संकेत दे देता है और तब शेष चित्र पाठक की कल्पना अपने-आप पूरा कर लेती है। रावण के अंतःपुर को, 'समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रमिव निःस्वनं' कहकर वे दो-एक श्लोकों में रीतिबद्ध ढंग से उपमा-उपमेय समानता बताते हुए आगे बढ़ पर रस-प्रवण मन इस बिंब को कल्पना के धरातल पर ग्रहण करके रावण के अंतःपुर का अद्भुत दृश्य देखता है। रत्नाकर की ही तरह वह अंतःपुर प्रमदा रत्नों से भरपूर, महोदधि की तरह वह ध्वनि-प्रति ध्वनि युक्त, नाद-संकुल और अतल रहस्यमय है, और रावण के क्रुद्ध होने पर या कोई विशेष घटना घटने पर यह अचानक शांत, मूक गिराबद्ध भी हो जाता है, जैसे मध्यान्ह का शांत सागर हो। इसके स्वभाव में इसके अपने पूर्व के रत्नाकर, पश्चिम के सागर तथा दक्षिण के महोदधि तीनों समुद्रों की अभिव्यक्ति होती है। यह उनके मिलनबिंदु पर जो स्थित है।

जैसे समुद्र में घहराती हुई लहरें उठती हैं; नाद की एवं अविराम गर्जन की घटा पर घटा तहीभूत होती जाती है और उसी के ऊपर-ऊपर दूर से बहती हवा का हू-हू स्वर एवं दूरागत खिंची ध्वनी, सिटकारी भरती हुई फिर अंतिम क्षण में तीव्र सीटी-जैसी ध्वनि सुनने को मिलती है और इन सब गर्जन-तर्जन, ध्वनियों-महाध्वनियों के अगल-बगल समुद्री पक्षियों का क्रेंकार उठता है, साथ ही कभी-कभी उनके 'पी-पी' स्वर एवं उनके

कलरव भी सुनाई पड़ते हैं। रह-रहकर सब-कुछ मिलाकर एक अद्भुत अंतर्ध्वंनन (आर्केस्ट्रेशन) का स्वाद मिलता है। पर इससे भी अद्भुत अंतर्ध्वंनन बजता है। रावण के इस प्रतापशाली अंत:पुर में। चारों ओर नोकरों-चाकरों का विविध कर्म-कोलाहल, शोरगुल है। पर उसी के मध्य कहीं नेपथ्य से गुरु-गंभीर पखावज के साथ बजती वीणा के स्वर आ रहे हैं और गंधर्व कंठों से तालों का पद-पाठ भी कड़क रहा है। यों सुनने वाले को पता नहीं चल पाता है कि किस दिशा से, कहां से यह ध्वनि आ रही है, किन्नरों का अभ्यास-कक्ष किधर है। तो दूसरी ओर जाने पर राक्षस कविगणों के कंठो से प्रशस्त संस्कृत में रूद्र-स्तव या या स्वस्ति-पाठ या कीर्तिमान के छंद पर छंद समुद्र-तरंगवत घहराते हुए ज्ञात होते हैं। तो तीसरी ओर किसी गैल से किसी प्रमदा के नूपुर और कटिमेखला की झंकार उसके नृत्य-शिक्षित पगों के साथ छमाछम एक ओर से दूसरी ओर निकल जाती है। सुनने वाले के मन में उस ध्वनिरूपा अदृश्य नारी के प्रति एक कौतूहल जगता है, पर मात्र क्षण-भर के लिए। क्योंकि अगले ही क्षण वह दूसरी ओर निकल गया रहता है, जहां अपने को अपश्रव्य अपशब्दों की धारा में, गाली-गलौज और चाकरों में कोलाहल के बीच छाती-भर नहीं तो कमर भर धंसा पाता है। उसे लगता है कि वह अंत:पुर में नहीं, बल्कि समुद्र के किनारे की छाड़न या दलदल में फंसा है, जिसके कीचड़ में सरी रूप और मकर नक्र झख लोट-पोट कर रहे हैं और पार्श्व से वायुविकल महोदधि की क्रुद्ध फूत्कार आ रही है। तो वाल्मीकि ने इस अंत:पुर के लिए ठीक ही लिखा है:

'समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रमिव नि:स्वनं'।

यह समुद्रोपम अंतर्ध्वंनन और कोलाहल तभी तक है। जब तक रावण दरबार में, पूजागृह में या मंत्रणागृह में है। सांध्य रुद्रोपासना के बाद ज्यों ही वह प्रवेश करेगा उसके आते ही आते सब-कुछ शांत, नि:शब्द, सब कुछ तालबद्ध, नृत्यबद्ध एवं अनुशासित! तब मारे भय के यह समुद्रोपम अंत:पुर नि:स्वन, नि:शब्द हो जाएगा।

मारुति इसी दुर्गम अतल अंत:पुर में धंसा है, ऊभ-चूभ हो रहा है। बाहर-बाहर ज्योत्स्ना अस्त हो गई है। पर भीतर स्तंभ-स्तंभ पर प्रदीप जल

रहे हैं। अभी तक पांडुरवर्णी उदास श्री, मात्र लावण्यशेष रामचंद्र की वधू सीता का पता नहीं चला! मारुति क्षणभर के लिए खिन्न हो जाता है। निष्फल श्रम, निष्फल साहस, निष्फल विक्रम। मारुति उन स्तंभों की चित्रकारी और मूर्तिटंकण की ओर दृष्टि देता है। यत्र-तत्र सोने और चांदी के ईहामृग भेड़िये सजे हैं। पांत पर पांत शिकार को विदीर्ण करती भूखे कुत्तों की आकृतियां उरेही गई हैं, अंगूर की लताओं में सांप चुनते हुए मयूर स्तंभों के टोड या 'पैनेल' पर अंकित हैं। गवाक्षों पर कंकालिनी चमुंडा की मुख मूर्तियां बैठायी गयी हैं, एक कतार में टमटमाती जीभ निकाले आकर्ण मुख फाड़े चमचमाते तांबे की श्वापद प्रतिमाओं पर रोशनी झर रही है और उसकी चमक में उनके मुख और विकराल, और तमतमाये हुए जान पड़ते हैं।

क्रूरता रस की इन अभिव्यक्तियों को देखकर वानर वीर को अरुचि हो गयी। किष्किन्धा की पाठशाला में गुरुओं द्वारा डिंगल-पिंगल, छायावाद-मायावाद आदि से मार्जित-प्रक्षालित निरामिष, शुद्धफलाहारी रुचि को यह सब कुरूप लगा। इसी समय ध्यान उचटा और उसकी नाक में भक्ष्य और पेय पदार्थों की सुगंधि प्रवेश करने लगी। उसे लगा कि यह गंध नहीं पिता का आदेश है। वानरश्रेष्ठ उसी दिशा में बढ़ता गया।

अग्रहायण की एकादशी का अंतिम प्रहर है। कपिश्रेष्ठ इसी में उलूकाभिसार कर रहा है। रात रहते-रहते कोई फांक, कोई दरार खोज लेनी है, जिससे रहस्य के भीतर झांका जा सके। "मरुदगण मेरे अंग-अंग की रक्षा करें। जहां किसी का प्रवेश नहीं, वहां पिता प्रवेश कर जाते हैं। वे पिता मेरी रक्षा करें।," ऐसा मन-ही-मन कहते मरुतनंदन हनुमान रावण की पान-भूमि और विहार-भूमि के मध्य प्रवेश कर जाते हैं। आधी रात कब ढल चुकी है! चारों ओर मर्दित शोभा, अवश निद्रा और उच्छिष्ट गंध है।

मारुति देखता है कि रावण के अंतःपुर में श्रृंगार-लीला से थककर या पान-भक्षण से बेसुध हो, जो जहां पड़ा, वहीं पड़ा। चारों ओर मौन उदासी, श्री-हीनता और वमिषा अर्थात् उबकाई का वातावरण है और इस सारे दृश्य को एकटक, एकमात्र देखने वाले हैं जलते-हुए दीपक, जो 'हारे हुए धूर्त

जुआरियों की तरह एक पांत पर चुपचाप बैठे हैं सिर पर हाथ देकर।' जलते दीपों को छोड़कर शेष सभी अस्तव्यस्त, मर्दित-घर्षित, सुप्त अवशय हैं। रौंदी लताओं की तरह, वाहिता किशोरी घोड़ियों-जैसी, श्रांत, अवश सुप्त प्रमदाएं इधर-उधर, चित-पट उत्तान करवट बेखबर सोयी हैं। कोई वीणा को कसकर आलिंगन में बांधे है, कोई मदपान से बेसुध मृदंग को ही कामातुर भाव से दवाए है। कोई अन्य प्रमदा को ही प्रेमी मानकर लिपटी हुई है। चारों ओर घोर रमणतृषा, घोर उत्कट देह-गंध और रति-मर्दित उच्छिष्ट श्री! संध्याकाल में जो कुछ लक्ष्मी की छवि, श्री-जैसा मनोहर था, वह सब-कुछ कुश्री-विश्री हो चुका है। कपिश्रेष्ठ के ब्रह्मचारी चित्त में बड़ी वितृष्णा हुई। उन्हें संतोष भी हुआ कि अन्य नरों की भांति, कूकर-शूकर की भांति उन्होंने इस उच्छिष्ट अपावन भोग को अपने शरीर में कभी नहीं लपेटा और निरंतर ब्रह्मचर्य का अमृत पीकर, जांघों पर ताल ठोंककर, विचरण करते रहे। सुप्त रावण मांस की विशाल राशि की तरह पलंग पर पड़ा था। उसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि डालते वे बाहर निकल गए। रास्ते में सारी पान-भूमि जूठे बर्तनों, भृंगारों, करकों, मृद्भांडों, उलटी सुराहियों से भरी पड़ी थी। कहीं मांस की ढेरियां, कहीं फल-मूल, कहीं व्यंजनों की राशि, तो कहीं-कहीं लबालब भरे मदिरा के घट अब भी पड़े थे। दही और मसालों की गंध से, तथा मदिरा की उत्कट वाष्प से उनका माथा भिन्ना गया। वे बाहर निकल आए।

पूर्व दिशा में लालिमा के आसार अभी प्रकट नहीं हुए हैं, पर रात्रि एक घड़ी शेष है। चुहचुहिया बोलने लगी है। मारुति एक प्राचीर पर बैठकर ताजी स्वच्छ हवा से घ्राण शुद्ध कर रहे हैं। रात के झरते बकुल और पारिजात की गंध से संपृक्त हवा उन्हें बार-बार इशारा कर रही है, एक दिशा-विशेष की ओर। यह सुगंध उन्हें वैसे ही रावण की अशोकवाटिका की ओर खींच रही है, जैसे कोई बहन उत्कंठा से भाई को पत्र लिख-लिखकर बुलाती है। अशोकवाटिका का ख्याल आते ही महाकवि के असीम धीर-गंभीर हृदय में नयी आशा का संचार हो गया। वे मन-ही-मन विश्वात्मा ईश्वर और विश्वमन की उदात्त शक्तियों से प्रार्थना करने लगे कि उस उन्नत नासिका, कुंद श्वेत दंत-पंक्ति, व्रणहीन स्निग्ध मुख-मंडल, पद्मपलाश लोचन

एवं निर्मल चंद्रोपम अंग कांतिवाली आर्या भगवती मैथली के दर्शन पा जाएं, जो कहीं पर यहीं पिंजरबद्ध सारिका-सी छटपटा रही होंगी :

तत्तुन्नसं पांडुरदंतमव्रणं
शुचिस्मितं पद्म पलाशलोचनम्
द्रक्ष्ये तदार्या वदनं कदान्वहं
प्रसन्न ताराधिप तुल्य दर्शनम् ।

●●

असंख्य इन्द्रधनुषों के बीच

प्रभाकर द्विवेदी

'विबग्योर' ! अर्थात् सातों रंगों की इंद्रधनुषी छटा !

पीछे छूट गया तिब्बत की ओर का यह अंतिम भारतीय गांव माणा भी। सरस्वती नदी के ऊपर भीम द्वार बनाए गए पुल को पार कर हम जब यहां पहुंचे तो दिन के साढ़े तीन बज रहे होंगे। आषाढ़ के तीसरे पहर के सूरज की किरणें वसुधारा प्रपात को छू-छूकर उसे रंगीन बना रही थीं और चार सौ फुट की ऊंचाई से गिरती हुई जलधाराएं दूध के झाग उड़ा रही थीं।

दूर तक जमी पड़ी बरफ पर से ठंडी हवा का एक झोंका आया और हमारे चेहरों की फट रही त्वचा को चरपरा गया। पूर्वी आकाश में बादल थे, सफेद और घने। बिल्कुल मैदानी बादलों की तरह के। पहाड़ के धुएं जैसे बादल नहीं, जो घरों में घुस आते हैं और हमारे सिर के ऊपर से टह-लते निकल जाते हैं।

प्रपात हमसे दूर था फिर भी उसके हिमशीतल जल की ठंडक का पता चल रहा था। हमारे सामने लंबी-लंबी परछाइयों की एक कतार थी। हमारे साथ बहुत से यात्री खड़े थे, पाप-पुण्य का लेखा-जोखा ठीक कराने को। पछुआ हवा प्रपात की फुहारों को इधर खींच लाती है और छींटों को दर्शकों पर छोड़ जाती है। जिस पर ये छींटे नहीं पड़ते, वे ही हैं पापी। इंद्र के आठों वसु यहां न्याय की तुला लिये बैठे हैं। क्यों करें ये पापिष्ठ जनों को उपकृत ?

ठीक वगल में ही खड़ी हैं वे बंगालिन मां। पहले भेंट हुई थी पीपल-कोठी में। वहां से मैं तो तीसरे ही दिन पहुंच गया वदरीनाथ धाम। पर वृद्धावस्था के अशक्त पांव वहां तव आए, जव धाम में अलकनन्दा की हहर-हहर की रात-दिन की कर्कश आवाज से मेरे कान अभ्यस्त हो गए। देखा तो पहचान गयी थीं। उनके लिए यह कौतूहल नहीं श्रद्धा का विषय था कि मैं इतनी छोटी उम्र में ही यहां चौथा धाम करने आ गया! पांवों में चप्पल-जूते नहीं, शरीर पर है केवल एक सफेद धोती और चल रही थीं डेढ़-दो फुट जमी पड़ी वरफ पर। ठंडक से पांव सुन्न पड़ गए थे तो वेसहारा दृष्टि से ताक रही थीं!

"आओ मां, आगे वढ़ो।" मैंने हाथ वढ़ा दिया था। पर उन्होंने ग्रहण नहीं किया। उम्र अधिक हुई तो क्या! पर पुरुष का हाथ न पकड़ेंगी। तिरस्कार महसूस कर मैं तेजी से आगे वढ़ आया था। और पीछे-पीछे पांव घिसटाती वे वाद में आई थीं।

खड़ी है वगल में और ओठों-ही-ओठों में कुछ वुदवुदा रही हैं। संभवतः काली से याचना कर रही हैं कि वसुधरा ही पुण्य वर्षा की एक बूंद तो इधर भेज ही दें नहीं तो अपवित्र देह ही लौट जाना होगा वदरीनाथ।

सारे प्रपात पर छाया हुआ है वह इंद्रधनुष। सूर्य की आड़ी-तिरछी किरणें चमक रही हैं जलधाराओं पर। तनिक हटकर वाईं ओर दूरबीन से देख रही हैं वे गौरांगनाएं। अमरीकन लड़कियों की ऊंचाई और पंजावी वेशभूषा। वगल में ही वरफ के कैमरे का स्टैंड गाड़ रखा है। किसी ऊनी कपड़े की है सलवार और ऊपर का कपड़ा भी ऊनी ही है जिसका मुझे नाम नहीं ज्ञात—अच्छा चमकीला है। वालों की पोनी टेल वना रखी है और तीखे ग्रीक नाक-नक्शे की सुडौलता वाले चेहरे का थोड़ा ऊपर की ओर उठा रखा है। कनखियों से देखा उन्हें क्योंकि साहस न हुआ सामने से सीधे देखने का, अपनी हीन भावना के कारण। सिर के वाल मैंने वनवा रखे हैं, दाढ़ी बढ़ी हुई है और शरीर पर है साधारण खादी का गंदा कुर्ता और वैसी ही धोती घुटनों तक ऊंची पहनी हुई। चेहरे की त्वचा को हिमानी हवा जर्ज-रित कर चुकी है जिसकी रक्षा मैं उनकी तरह प्रसाधनों से नहीं कर पाया हूं। साधुओं, पंडितों वाली इस पोशाक में मैं कैसे उन्हें देख सकता हूं, इस-

लिए चुपके से, चोरी से ही देख लेता हूं।

सामने देखा, तो प्रपात के काफी पहले बाईं ओर की चट्टान पर चढ़ा एक व्यक्ति दिखा। बहुत ऊंची नहीं है यह चट्टान। फिर भी इस चढ़ाई पर इस ठंडक में कैसे संभव हुआ उसका चढ़ना? और यह लो, वह तो वहीं पर शीर्षासन लगा रहा है! अवश्य ही वह कोई संन्यासी है। ऐसी चमत्कारपूर्ण शैली का प्रयोग प्रभाव छोड़ने के लिए संन्यासी ही करते हैं। रुचि बढ़ी तो मैं आगे बढ़ लिया। संकरा रास्ता है। तनिक-सा फिसलने पर नीचे गहरे गड्ढे में जा सकते हैं। लेकिन जब एक व्यक्ति पहुंचा है, तो मैं क्यों नहीं! गौरांगनाओं की दूरबीन के फोकस में मैं भी आ जाऊंगा, यह लोभ कम नहीं है।

चट्टान के नीचे पहुंचने पर देखा कि शीर्षासन समाप्त हो गया था। उन्हें पहचान भी लिया। ये तो वही साधू हैं जो गरुड़गंगा में मिले थे। मुझसे ड्योढ़े तेज चलने वाले। चिलम की लौ इतनी ऊंची निकालते थे कि भय लगता था। और दम खींचने के बाद लाल-लाल चमकती आंखें! बाप रे! कैसा सम्मोहन था।

सम्मोहन तो बदरीनाथ के वीणा महाराज की आंखों में भी है, किंतु वहां है एक स्निग्ध तरलता। पर यहां इन जलती-चमकती आंखों में आज्ञा का भाव है। सबको दबाकर रखने की इच्छा।

मुझे हाथ के इशारे से बुलाया गया। आगे बढ़ा। कठिन है इस चट्टान पर चढ़ना। पर किसी तरह से रेंगा। साधू ने चिमटा बढ़ाया। उसे पकड़ा लेकिन जैसे अंगुलियों में शक्ति ही नहीं है। उन्होंने हाथ पकड़कर खींच लिया। अब ध्यान दिया, उनके शरीर पर है एक लंगोटी, अंचरा भी उतार रखा है। आंखें चढ़ी हैं, जैसे अभी गांजे का दम लगाया हो। उन्होंने अपना कड़ा शक्तिमान हाथ मेरे कंधे पर रखा। सामने दिखाया प्रपात पर एक साथ असंख्य इंद्रधनुष बन-बिगड़ रहे थे। विभ्योर! सातों रंगों की छाया? सब धनुष के आकार में। जाने कितने दिखाई दे रहे थे। बनते थे, मिटते थे। चमकते थे, फिर लुप्त हो जाते थे।

वर्षा ने भिगो दिया। जाड़े के मारे ठिठुरने लगा। जलधारा की शक्ति से हवा तेज बहती है और तब धारा का उड़ता पानी भिगो जाता

है। तन-मन। साधू की ओर देखा। बोले—"चलो नीचे।"

उतरने लगे। चढ़ना आसान था। पर उतरूं कैसे? भय के मारे काली देवी की मूर्ति आंखों के आगे फिरने लगीं। मन-ही-मन कहा कि 'हे देवी, आज तक तुम्हारा जो भी मजाक उड़ाया हो, सब अज्ञानवश किया है। मैं भीतर-ही-भीतर तुममें श्रद्धा रखता हूं।' शायद इससे कुछ बल मिला। किसी तरह रेंगकर उतरा।

वापस परछाइयों की कतार में पहुंचा तो बंगालिन मां श्रद्धाविभोर आईं। टूटी-फूटी हिंदी में बोलीं—"ओ मां! केतना आश्चर्जो! तुम तो चान (स्नान) कर आया। हमारे ऊपर एक बूंद भी जोल नहीं!"

मेरे कुर्ते से पानी चू रहा था। उन्होंने निचोड़कर चुल्लू में रोप अपने ऊपर छिड़का। लपककर मैंने पैर छू लिए। उनकी देखादेखी बहुत से यात्री ऐसा ही करने लगे। साधू दूर चले गये थे, उनकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। कनखियों से देखा—एक गौरांगना देख रही थी। इच्छा हुई कि इसके हाथों भी स्पर्श मिले। भले ही चरणों पर ही। वह पास ही आ गयी थी। लेकिन यात्रियों से अपने को अलग किये।

मुझे निपट देहाती गंवार समझ उसके साथ के पुरुष ने अंग्रेजी में कहा—"तुम भी पैर छू लो न जाकर!"

उसने अंग्रेजी में जवाब दिया—"डर्टी! फुलिश!"

"फिर तुम उसे दूरबीन से क्यों देख रही थीं?"

"मैं उसके पसीने की बूंदों को देख रही थी—एडवेंचर को।" उस पोनी टेल ने कहा।

"वे पसीने की बूंदें नहीं, उसके भगवान के चरणामृत की बूंदें थीं।"

वे दोनों इसी पर ठठाकर हंसने लगे। मैं यही सोचकर संतोष करने लगा कि मैंने एकसाथ सैकड़ों इंद्रधनुषों की जो छटाएं देखी हैं, वे न तो तुम इस दूरबीन से देख पाये होगे, न कैमरे से उनकी फोटो को ही खींच पाये होगे।

धूप फीकी होने लगी थी, इससे हम लोग वापस लौटने के लिए आगे बढ़े। वह गौरांगना इससे पहले ही लौट चली थी।